बी० ए० (प्रतिष्ठा) तृतीय खण्ड
दर्शनशास्त्र, पंचम पत्र

क्रम सं०			पाठ	पृष्ठ
1.	धर्म का स्वरूप	---	1	2
2.	धर्म और विज्ञान : उनका संबंध	---	2	9
3.	धर्म और नैतिकता	---	3	16
4.	धर्म एवं ईश्वरशास्त्र	---	4	22
5.	धार्मिक चेतना	---	5	26
6.	क्रियात्मक पहलू	---	6	31
7.	भावनात्मक पहलू	---	7	35
8.	धार्मिक विश्वास का आधार	---	8	40
9.	दैव-प्रकाशना एवं रहस्यानुभूति	---	9	45
10.	प्रारंभिक धर्म के विभिन्न प्रकार	---	10	50
11.	ईश्वर अस्तित्व के लिये कार्य-कारण एवं विश्वमूलक प्रमाण	---	11	56
12.	ईश्वर-अस्तित्व हेतु तात्विक प्रमाण	---	12	62
13.	ईश्वर-अस्तित्व हेतु प्रयोजनात्मक युक्ति	---	13	67
14.	ईश्वर अस्तित्वत हेतु नैतिक युक्ति	---	14	72
15.	ईश्वर के गुण	---	15	77
16.	अशुभ की समस्या : प्राकृतिक एवं नैतिक	---	16	83
17.	अशुभ की समस्या का ईश्वरवादी समाधान	---	17	89
18.	आत्मा की अमरता के प्रमाण	---	18	94
19.	धर्मों की एकता	---	19	99
20.	धर्म-परिवर्तन तथा धर्म-निरपेक्षतावाद	---	20	105

धर्म का स्वरूप

पाठ-संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 विषय प्रवेश

1.2 मुख्य विषय

- 1.2.1 धर्म क्या है ?
- 1.2.2 धर्म और धर्मदर्शन
- 1.2.3 धर्म का स्वरूप
- 1.2.4 धर्म : एक सर्वव्यापी अभिवृत्ति

1.3 सारांश

1.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

1.5 अभ्यास के प्रश्न

- 1.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
- 1.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 1.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1.6 प्रस्तावित पाठ

1.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धर्म के स्वरूप के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण एवं व्याख्या करना है। इतने सारे धर्म हैं और उनके अनुयायियों से, जो तुम्हारे आस पड़ोस में रहते हैं, तुम्हारा पाला अवश्य पड़ा होगा। हर धर्म की अपनी-अपनी विशेषता होती है, विश्वास और तदनुसार व्यवहार करने की प्रक्रिया होती है। तथापि हम विभिन्न धर्मों के बीच कुछ सामान्य तत्वों का निर्देश करने में समर्थ हो सकते हैं। इस पाठ में हम इन्हीं विशेषताओं की व्याख्या करेंगे।

1.1 विषय प्रवेश

धर्म और मानव का बहुत पुराना संबंध है। जब से मानव है, तब से धर्म भी है। मानव सदा से किसी न किसी धर्म का अनुपालन करता आया है। मानवशास्त्रियों के बीच आज मतैक्य है कि किसी उच्चशक्ति में विश्वास के रूप में धर्म सर्वव्यापी है। मानवीय चेतना की तरह ही धर्म प्राचीन है। कोई भी आदिम जाति ऐसी नहीं है जो धर्म से शून्य हो, भले ही धर्म का रूप विकृत ही क्यों न हो। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ आर्नल्ड ट्वायनबी ने बताया है कि धर्म आदिकाल से ही मानव का मार्गदर्शन करता रहा है एवं संभवत: भविष्य में भी करता रहेगा। धर्म का रूप और उसका स्वरूप समय के प्रवाह में भले ही बदल जाय किन्तु धर्म किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहेगा क्योंकि धर्म मानव-स्वभाव में ही निहित है।

1.2 मुख्य विषय

इस पाठ का मुख्य विषय 'धर्म' है। यद्यपि हम अपने दैनिक जीवन में प्राय· ही धर्म की चर्चा करते हैं और प्रस्थापित करते हैं कि धर्म मानव स्वभाव में ही निहित है और धर्म किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है, फिर भी धर्म को परिभाषित करना इतना आसान नहीं है। अत: 'धर्म' क्या है ? और यह किस प्रकार 'धर्म दर्शन' से भिन्न है ? इसका स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। तभी हम धर्म के स्वरूप की विवचना कर सकते हैं।

1.2.1 धर्म क्या है ?

हिन्दू धर्म, यहूदी धर्म, इसाई धर्म, इस्लाम धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, आदि सभी धर्म ही हैं। किन्तु कोई ऐसी परिभाषा, जो इन सभी धर्मों को अपने में आत्मसात कर ले, देना सम्भव नहीं है। गैलवे ने धर्म की परिभाषा इन शब्दों में की है– "अपने से परे शक्ति में मनुष्य का वह विश्वास धर्म है, जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन को स्थिरता प्रदान करता है तथा जिसे वह उपासना एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।"

गैलवे की यह परिभाषा बहुत ही लोकप्रिय है क्योंकि यह परिभाषा केवल पाश्चात्य धर्मों पर ही नहीं बल्कि हिन्दूधर्म पर भी लागू होती है। धर्म के विषय में दो प्रकार के मत धर्म चिन्तकों के बीच है । ह्वाइटहेड और प्राइस जैसे धर्म चिन्तक धर्म को वैयक्तिक अनुभूति मानते हैं। ह्वाइटहेड को शब्दों में "मनुष्य अपने एकाकीपन में कुछ भी करता है वही धर्म है।" सुसभ्य मानव की कल्पनाओं में जो महान धार्मिक अवधारणाओं के क्षण उभरते हैं, वे एकाकीपन के दृश्य मात्र हैं, यथा चट्टान से जंजीरों से बाँधा अकेला प्रॉमिथियस, विशाल मरुभूमि के एकान्त में चिन्तामग्न मुहम्मद साहब, वटवृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित बुद्ध एवं सलीब (क्रूस) पर लटका हुआ अकेला व्यक्ति। किन्तु दुरखिम जैसे समाजशास्त्री दूसरी ओर धम को सामाजिक, सामूहिक व्यवहार मानते हैं। समाजसेवा के बिना, सामूहिक प्रार्थना, भजन व कीर्त्तन के बिना धर्म सार्थक नहीं हो सकता। गैलवे द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा में वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों पक्षों को स्थान दिया गया है। किन्तु तब इस परिभाषा से जैन और बुद्ध धर्म की व्याख्याा नहीं हो सकती। हॉफडिंग द्वारा दी गई परिभाषा "मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म है" जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के साथ न्याय कर सकती है। वस्तुत: धर्म के अनेक रूप हैं। विस्तृत अर्थ में धर्म का अर्थ मानव का किसी आदर्श के प्रति आराध्य भाव से समर्पण है। मार्क्सवादी चिन्तकों ने पारम्परिक धर्म को अफीम का नशा मना है और वे वर्गविहीन समाज की स्थापना को आदर्श मानते हैं और उसी आदर्श प्राप्ति के लिये समर्पित रहते हैं। उनके लिये यही धर्म है। मानववादी दार्शनिक 'मानव' या 'किसी मानवीय गुण' को अपना आदर्श मान लेते हैं और मानव की सेवा को अपना चरम उद्देश्य मान लेते हैं। किसी आदर्श में दृढ़ विश्वास, अविचल श्रद्धा और असीम लगाव व समर्पण ही धर्म है। मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसके धर्म, आचरण एवं व्यवहार में होती है।

1.2.2 धर्म और धर्मदर्शन

दर्शन समीक्षात्मक जिज्ञासा है। किसी भी विषय की बौद्धिक परीक्षा, बिना किसी पूर्वाग्रह के निष्पक्ष रूप से करना ही दर्शन है। इस प्रकार की जिज्ञासा या बौद्धिक परीक्षा में किसी भावना या संवेग का या किसी प्रामाणिक व्यक्ति का कोई स्थान नहीं रहता। जब हम किसी धर्म या धार्मिक अवधारणा या धार्मिक अनुभूति या धार्मिक क्रियाकलाप की परीक्षा, विश्लेषण, चिंतन या समीक्षा करते हैं तो वह धर्मदर्शन कहलाता है। धर्मदर्शन बौद्धिक प्रक्रिया है, किन्तु धर्म आस्था है, मानव की निष्ठा एवं विश्वास है। धर्म पर विचार करना, धार्मिक

निष्ठा, एवं विश्वासों पर प्रश्न चिन्ह लगाना धर्मदर्शन है, धर्म नहीं। धर्मदर्शन का उद्देश्य धर्म को बौद्धिक आधार प्रदान करना भी नहीं है और न इसका उद्देश्य धर्म की आलोचना करना ही है। इसका एकमात्र उद्देश्य धर्म की, धार्मिक अवधारणाओं का समीक्षात्मक अध्ययन करना है। धर्मदर्शन धार्मिक अनुभूतियों पर शंका करता है, उनकी विवेचना करता है। धर्मदर्शन धर्म नहीं है। धर्म किसी आदर्श के प्रति अर्पण है। धर्मदर्शन किसी भी प्रकार के अर्पण या समर्पण का कायल नहीं है। यह एक स्वतंत्र, निष्पक्ष जिज्ञासा है।

1.2.3 धर्म का स्वरूप

हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि धर्म कई प्रकार के हैं, उनके कई रूप हैं और सभी प्रकार के धर्मों को एक ही परिभाषा के अन्तर्गत लाना सम्भव नहीं है। किन्तु गैलवे की दी गई परिभाषा (जिसे पारम्परिक रूप से स्वीकार किया जाता है) को मानकर, धर्म के स्वरूप के संबंध में निम्नलिखित विशेषताओं को अंकित कर सकते हैं :

सबसे पहले धर्म, मानव से परे किसी सर्वोच्च शक्ति में निष्ठा है। यह केवल विश्वास नहीं है, बल्कि अटूट श्रद्धा है। इस सर्वोच्च शक्ति को मानव 'ईश्वर' की संज्ञा देता है। एक बौद्धिक प्राणी होने के कारण मानव अपनी निष्ठा कोई भी उल-जलूल शक्ति में नहीं कर सकता, जब तक वह उस शक्ति की श्रेष्ठता के बारे में पूर्णतः आश्वस्त न हो जाय। जब उसकी बौद्धिक शक्ति सन्तुष्ट हो जायगी, जब उसकी बुद्धि उस शक्ति के आगे घुटने टेक देगी, जब उसे पूर्ण विश्वास हो जायगा कि यही शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, तभी उसकी श्रद्धा, निष्ठा उस शक्ति के लिये जागृत होगी। निष्ठायुक्त श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा नहीं है। इसका उदय तभी होता है जब मानव सब प्रकार से उस शक्ति की महानता, श्रेष्ठता के बारे में आश्वस्त हो जाता है।

द्वितीय विशेषता यह है कि मानव अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की तुष्टि इसी विश्वास के सहारे, इसी निष्ठा के द्वारा करता है। मानव केवल बौद्धिक प्राणी नहीं है, वह भावनाओं एवं संवेगों से युक्त भी है– ये दोनों ही मानव के भावनात्मक पक्ष के द्योतक हैं। मानव की मानसिक दशा की अस्त-व्यस्त अवस्था ही उसकी संवेगात्मक स्थिति का परिचायक है। मानव इस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति से उबरना चाहता है। इस प्रकार की श्रेष्ठतम शक्ति पर आश्रित होने पर ही उसे जीवन में स्थिरता प्राप्त होती है। जिस प्रकार भूख और प्यास शान्त होने के पश्चात् गाढ़ी निद्रा से मानव के जीवन में शान्ति एवं स्थिरता आ जाती है, ठीक उसी प्रकार जब मानव को भावनात्मक सन्तुष्टि मिल जाती है, तो उसके जीवन में स्थिरता आ जाती है। धर्म, इस प्रकार मानव को जीवन में स्थिरता प्रदान करता है।

तृतीयतः मानव अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति शान्ति एवं सुखद आन्तरिक जीवन में नहीं, बल्कि पूजा, अर्चना, सामूहिक प्रार्थना, भजन, कीर्त्तन एवं सामाजिक सेवा जनित कार्यों द्वारा भी करता है। जब तक मानव इस प्रकार के वाह्य धार्मिक जीवन-यापन नहीं करता, उसे धार्मिक नहीं कहा जाता है।

गैलवे की परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति है। मानव के बौद्धिक, रागात्मक एवं क्रियात्मक जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति धर्म में होती है।

किन्तु यद्यपि गैलवे की परिभाषा ईश्वरवादी धर्मों की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ है, फिर भी जैन और बौद्ध धर्म की व्याख्या नहीं कर पाती, क्योंकि इन धर्मों में किसी वाह्य शक्ति में निष्ठा की बात नहीं कही जाती। इन धर्मों का एकमात्र आदर्श 'निर्वाण' की प्राप्ति है। इसी प्रकार निरीश्वरवादी मानववादी धर्म एवं मार्क्सवादी कम्युनिज्म का आदर्श भी गैलवे की परिभाषा से अछूता रह जाता है। गैलवे के लिये धर्म चेतन प्रतिक्रिया है किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में अन्वेषकों ने अनुसन्धान कर बताया है कि धर्म में चेतन के अतिरिक्त अचेतन एवं अर्द्धचेतन की भी बड़ी भूमिका है।

1.2.4 धर्म एक सर्वव्यापी अभिवृत्ति

डा० वाई० मसीह ने इन कठिनाइयों से उबरने के लिए धर्म की एक अर्वाचीन परिभाषा सुझाई है। उनके अनुसार ''धर्म वह सर्वव्यापी अभिवृत्ति (all pervasive attitude) है जो आदर्श विषय के प्रति आस्था पर आधारित रहती है और जिसके प्रति आत्मबन्धन (commitment) उपासना/या समाधि द्वारा अभिव्यक्त एवं दृढ़ किया जाता है।'' इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर धर्म के स्वरूप की निम्नलिखित अन्य विशेषताओं को भी अंकित किया जाना चाहिये :

आदर्श विषय के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा – प्रत्येक धर्म में कोई न कोई आदर्श विषय अवश्य होता है जिसके प्रति मानव अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है। यह आदर्श ईश्वर या अतिप्राकृतिक शक्ति या अन्य कुछ भी हो सकता है। यह आदर्श निर्वाण की प्राप्ति, या वर्गहीन समाज की स्थापना या मानव-कल्याण कुछ भी हो सकता है।

आदर्श के प्रति मन, वचन एवं कर्म से संलग्नता – आदर्श के प्रति निष्ठा क्षणिक या कालिक नहीं होती। मनुष्य इस आदर्श के प्रति जीवन के उतार-चढ़ाव में समान रूप से निष्ठावान रहता है।

आदर्श विषय के प्रति श्रद्धा पर धर्म आधारित रहता है – श्रद्धा का विषय परम सत्ता या ईश्वर या और कोई भी हो सकता है। इस परिभाषा के अन्तर्रागत ईश्वरवाद, मानवतावाद, कम्युनिज्म, जैन एवं बौद्धधर्म सभी आ जाते हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति के लिए श्रद्धा का विषय बहुत ही मूल्यवान होता है। इस आदर्श विषय के लिये उसे असीम श्रद्धा रहती है। यदि यह आदर्श न हो, तो उसके लिये उसे श्रद्धा नहीं होगी। भक्त के लिये श्रद्धा का पात्र आदर्श होता है। यह एक बात है कि एक जाति या वर्ग के लिए जो आदर्श है, वह दूसरी जाति या वर्ग के लिये आदर्श नहीं भी हो सकता है। किन्तु हर वर्ग या जाति अपने आदर्श के लिए अपना सब कुछ धन, सम्पत्ति यहाँ तक कि अपना जीवन भी उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहता है। यही कारण है कि 'मूल्यों का संरक्षण' ही हॉफडिंग के लिए धर्म है। हर धर्म का कोई न कोई 'आदर्श विषय' अवश्य होता है।

आदर्श विषय के बाद इस परिभाषा में दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा 'श्रद्धा' की है। 'विश्वास' 'निष्ठा' से भिन्न समझना चाहिये। विश्वास या निष्ठा का अर्थ है कि कोई ज्ञेय पदार्थ है जो हमसे स्वतंत्र है जिसमें हमें विश्वास या निष्ठा है। यह ज्ञेय वस्तु सत्य या असत्य दोनों हो सकती है। किन्तु धर्म में जिस आदर्श विषय के प्रति धर्मनिष्ठ व्यक्ति की श्रद्धा रहती है, उसके संबंध में सत्य या असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता।.'निर्वाण' जैनों के लिए आदर्श है–निर्वाण सत्य है या असत्य, यह प्रश्न ही नहीं उठता। धर्म के 'आदर्श विषय' के बारे में सत्य या असत्य का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि यह ज्ञान की वस्तु 'नहीं'। वह श्रद्धा का विषय है। इसलिये 'विश्वास' या 'निष्ठा' से अधिक उपयुक्त शब्द 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' शब्द यद्यपि संवेग एवं भावजनक है फिर भी जिस मानसिक शान्ति का यह द्योतक है वह एक सच्चे भक्त की भक्ति का ही परिचायक है। गीता में जिसे 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है जो सुख दु:ख से ऊपर है, जिसे हर्ष-विषाद आन्दोलित नहीं करता, जो सभी प्रकार से अचिन्त है सच्चा भक्त है। आदर्श विषय के प्रति श्रद्धा का अर्थ यह नहीं है कि विषय ज्ञेय है और सत्य या असत्य हो सकता है।

'श्रद्धा' ज्ञानजनक स्थिति नहीं है। ज्ञान में ज्ञान का एक विषय होता है और सत्य की एक कसौटी होती है जिसके द्वारा ज्ञान को सत्य या असत्य ठहराया जाता है। धार्मिक अनुभूति एक अनूठा अनुभव है – गूँगे के गुड़ खाने जैसा अनुभव है जो गूँगा अनुभव तो करता है, पर बता नहीं सकता।

आदर्श विषय के प्रति अर्पण (Commitment) या आत्मबन्धन – धर्म में भक्त अपने आदर्श के प्रति अर्पित रहता है। भक्त तन, मन धन से उस आदर्श के प्रति समर्पित रहता है। ''धार्मिक विश्वास वह है

जो किसी निष्ठा के विषय के प्रति सम्पूर्ण आत्मबन्धन या अर्पण के आधार पर जीवन की समस्याओं की ओर सर्वव्यापक रीति से व्यक्ति को अभिमुख करे।'' ऐसा ब्लैकस्टोन का कहना है। 'आत्मबन्धन' या 'अर्पण' का अर्थ है कि मानव अपने आदर्श से इस प्रकार जुड़ जाता है कि वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उस आदर्श की प्राप्ति के लिए बलिदान करने को तत्पर रहता है। धर्म में, भक्त का चिंतन, भावना और संवेग श्रद्धा या निष्ठा के आदर्श में केंद्रित रहता है। धर्म में मानव की बौद्धिक, रागात्मक, क्रियात्मक, शक्तियाँ चेतन, अचेतन एवं अर्द्धचेतन सभी स्तर से क्रियाशील रहती हैं। धार्मिक जीवन इस प्रकार आदर्श के लिये समर्पित, आत्मत्याग का जीवन कहा जाता है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपने आराध्य की महिमा सभी चीजों में पाता है।

विश्व के प्रति सर्वव्यापक अभिवृत्ति – आत्मसमर्पण का यह परिणाम होता है कि भक्त आत्मविभोर हो उठता है और अपने में उसे अपने आराध्य आदर्श की छाया तो नजर आती ही है, वह अपने चारों ओर भी उसी आराध्य आदर्श या ईश्वर की झलक देखने लगता है। धार्मिक प्रक्रिया में व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व लगा होता है। इसीलिए कहा जाता है कि सम्पूर्ण सत्ता के प्रति सम्पूर्ण मानव की प्रतिक्रिया ही धर्म है।

'आदर्श के प्रति समर्पित होना' एवं 'सर्वव्यापी अभिवृत्ति में अन्तर करना यहाँ आवश्यक है। आदर्श के प्रति श्रद्धा, निष्ठा प्रथम चरण है और उस निष्ठा का प्रतिफल है कि व्यक्ति अपना सब कुछ इस आदर्श पर न्योछावर कर देता है। इसे ही अर्पण या समर्पण कहते हैं।

अभिवृत्ति न्यूनाधिक स्थायी होती है। धर्म में सर्वव्यापी अभिवृत्ति दूसरी अभिवृत्तियों से भिन्न होती है। धार्मिक अभिवृत्ति अधिक व्यापक होती है और पूरी दुनिया, पूरे जगत सम्बन्धी होती है और जीवन के सभी पक्षों से संबंधित रहती है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से मानव जीवन का कोई भी अंश अछूता नहीं रहता है। नैतिक अभिवृत्ति मानवीय सम्बन्धों से संबंधित रहती है। किन्तु धार्मिक अभिवृत्ति पूरे विश्व से संबंधित रहती है। धार्मिक अभिवृत्ति पृथ्वी पर बसे हुए हर प्राणियों के प्रति रहती है। इसके दायरे में विश्व भर के जीव अजीव के साथ मानव संबंध आते हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपनी श्रद्धा के आदर्श का दर्शन विश्व के कण-कण में करता है।

उपासना एवं समाधि – धार्मिक अभिवृत्ति को धर्म की कसौटी कहा गया है। किन्तु अभिवृत्ति एक सर्वोपरि और सर्वव्यापक मानसिक स्थिति है और जबतक यह अभिव क्त न हो, इसके विषय में कुछ कहना कठिन हो जाता है। धार्मिक अभिवृत्ति आत्मबन्धनात्मक व्यापार में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार का व्यवहार अनेक दिशाओं में होता है, किन्तु विशेषकर यह व्यवहार उपसना या समाधि के रूप में प्रकट होता है। उपासना एवं समाधि में कुछ अन्तर अवश्य है। उपासना, कई धार्मिक कृत्यों के साथ की जाती है। व्रत, मंत्रोच्चारण आदि के साथ उपासना की जाती है। समाधि के लिए कुछ तैयारियों की आवश्यकता होती है ताकि मन शुद्ध रहे और समाधि में, ध्यानादि में कोई बाधा नहीं उत्पन्न हो। उपासना और समाधि दोनों ही धार्मिकता की वाह्य अभिव्यक्ति है। उपासना औ् समाधि श्रद्धा की तरह ही पावन समझी जाती है। धार्मिककृत्यों के द्वारा धार्मिक विश्वास और अधिक दृढ़ होती है। अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म एवं इस्लाम धर्म दोनों में ही जन्म, मरण, विवाह के समय कई संस्कारों और धार्मिक कृत्यों का निष्पादन किया जाता है। कम्युनिज्म में भी 'मई दिवस' मनाने की परिपाटी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म सर्वव्यापक अभिवृत्ति है जिसकी उत्पत्ति आदर्श विषय के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा से होती है। इस सर्वव्यापक अभिवृत्ति की अभिव्यक्ति उपासना, समाधि एवं अन्य धार्मिक कृत्यों में अभिव्यक्त होती है।

1.3 सारांश

अब हमलोग धर्म के स्वरूप की मुख्य विशेषताओं का सारांश अधोलिखित शब्दों में कर सकते हैं।

1. धर्म मानव स्वभाव में ही निहित है। मानव सदा से किसी न किसी धर्म का पालन अवश्य करता आया है।

2. जिस प्रकार मानव अनेक प्रकार के हैं उसी प्रकार धर्म भी अनेक प्रकार के हैं। हर धर्म की अपनी विशेषता होती है।
3. धर्म सतत विकसित होने वाली प्रक्रिया है। ज्ञान की वृद्धि के साथ, मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया में भी विकास होता है। धर्म का भी विकास मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया के साथ-साथ होता है। धार्मिक अवधारणाएँ भी लगातार विकसित होती रहती हैं।
4. धर्म एक जटिल प्रक्रिया है। यह सम्पूर्णात्मक व्यवहार है। मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व धर्म प्रक्रिया में जुड़ जाता है। मानव स्वभाव के किसी एक अंग की प्रतिक्रिया धर्म नहीं है, बल्कि मानव के सभी आयामों की प्रतिक्रिया धर्म है।
5. धर्म में एक आदर्श अवश्य रहता है जिसे प्राप्त करने के लिये मानव सतत प्रयत्नशील रहता है। यही आदर्श वह केन्द्र है जिसके चारों ओर मानव के धार्मिक कृत्य घूमते रहते हैं।
6. हर धर्म में आदर्श विषय के प्रति श्रद्धा का मुख्य स्थान रहता है। आदर्श के प्रति मानव की निष्ठा, अटूट विश्वास रहता है।
7. धर्मनिष्ठ व्यक्ति को आदर्श के प्रति अर्पण की अभिवृत्ति रहती है। उस आदर्श के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करने की भावना धर्मनिष्ठ व्यक्ति में रहती है।
8. धार्मिक अभिवृत्ति सर्वग्राही, सर्वव्यापी होती है। जब हम धार्मिक अभिवृत्ति को सर्वव्यापी कहते हैं, तो इसका अर्थ है कि धर्मनिष्ठ व्यक्ति को केवल आदर्श के लिए ही श्रद्धामूलक अभिवृत्ति नहीं रहती, बल्कि धर्मनिष्ठ व्यक्ति को अपने आदर्श की प्रतिछाया अपने आस-पास के सभी पदार्थों में दिखाई देती है।
9. अन्त में धर्म की अभिव्यक्ति सदा कई प्रकार के धार्मिक कृत्यों में होती है। पूजा, अर्चना, सामूहिक प्रार्थना, उपासना एवं समाधि आदि इसी प्रकार के धार्मिक कृत्य हैं।

1.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

(क) **व्यक्ति** का अर्थ मानव की मनोदैहिक विशिष्टता। शारीरिक विशिष्टता यथा लम्बाई, शारीरिक बनावट आदि और मानसिक विशेषताएँ जैसे भावना, संवेग, चिंतन प्रक्रिया आदि।

(ख) आदर्श वह है जो वास्तविक न हो, आदर्श हमेशा अछूता रहता है। जितना अधिक मानव इस आदर्श को प्राप्त करना चाहता है, उतना ही अधिक आदर्श उसे अप्राप्य दिखता है। अतः आदर्श प्राप्ति-योग्य अवश्य है किन्तु प्राप्त किया हुआ है–ऐसा नहीं है।

(ग) श्रद्धा एक प्रकार की अटूट निष्ठा है जिसमें सम्मान भाव भी निहित रहता है। भक्त को अपने आदर्श के प्रति इसी प्रकार का श्रद्धायुक्त भाव रहता है।

(घ) अर्पण या समर्पण (Commitment) धर्मनिष्ठ व्यक्ति का आचार व्यवहार ऐसा ही होता है कि लगे कि वह अपने आदर्श के प्रति समर्पित है। 'समर्पण' का अर्थ अपना सब कुछ किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अर्पित कर देना।

1.5 अभ्यास के प्रश्न

1.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) धर्म

(क) मानव पर लादा जाता है

(ख) मानव के लिये स्वाभाविक है

(ग) मानव नकल के द्वारा ग्रहण करता है

(घ) आंशिक रूप से नकल है और आंशिक रूप से लादा जाता है।

उत्तर – (ख)

(2) धर्म का संबंध

(क) मानव की भावनाओं के संवेगों से है

(ख) मानव की बुद्धि से है

(ग) मानव की ऐच्छिक क्रियाओं से है

(घ) उपर्युक्त सभी से

उत्तर – (घ)

(3) धर्म और धर्मदर्शन

(क) एक ही है

(ख) आंशिक रूप से एक तथा आंशिक रूप से भिन्न है

(ग) एक दूसरे से बिल्कुल अलग है

उत्तर – (ग)

1.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **धर्म किस प्रकार धर्मदर्शन से भिन्न है ?**
   उत्तर – देखें 2.2
2. **धर्म की मुख्य विशेषताओं को संक्षेप में बताएँ।**
   उत्तर – देखें 1.3

1.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **धर्म के स्वरूप की व्याख्या करों।**
   उत्तर – देखें 2.3
2. **एक सर्वव्यापी अभिवृत्ति के रूप में धर्म की व्याख्या करें।**
   उत्तर – देखें 2.4

1.6 प्रस्तावित पाठ

1. जार्ज गैलवे : **द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन (स्क्रिबनर द्वारा प्रकाशित)**
2. जॉन हिक : **द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन (प्रेन्टिस हॉल द्वारा प्रकाशित)**
3. या० मसीह : **सामान्य धर्म दर्शन (मोतीलाल बनारसी द्वारा प्रकाशित)**
4. या० मसीह : **समकालीन धर्मदर्शन (मोतीलाल बनारसी द्वारा प्रकाशित)**
5. मैकग्रिगॉर जी० : **इन्ट्रोडक्सन टू रिलिजियस फिलॉसफी (हावटन 'मिफिन द्वारा प्रकाशित)**
6. कॉफमैन वाल्टर आर्नल्ड : **क्रिटिक ऑफ रिलिजन एण्ड फिलासफी (हार्पर, न्यूयार्क द्वारा प्रकाशित)**
7. थाम्पसन, सैम्युएल मार्टिन : **ए मॉडर्न फिलॉसफी ऑफ रिलिजन (रीजेन्सी द्वारा प्रकाशित)**
8. इ० एस० ब्राइटमैन : **ए फिलॉसफी ऑफ रिलिजन (प्रेन्टिस हाल द्वारा प्रकाशित)**

◆◆◆

इकाई 2

धर्म और विज्ञान : उनका संबंध

पाठ-संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 विषय प्रवेश

2.2 मुख्य विषय

2.2.1 विज्ञान से हम क्या समझते हैं ?

2.2.2 धर्म क्या है ?

2.2.3 धर्म एवं विज्ञान के बीच संबंध

2.3 सारांश

2.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

2.5 अभ्यास के प्रश्न

2.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

2.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

2.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

2.6 प्रस्तावित पाठ

2.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धर्म एवं विज्ञान के बीच स्पष्टतापूर्वक भेद बताना है ताकि लोगों के मन से यह गलत धारणा दूर हो जाय कि धर्म एवं विज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं।

2.1 विषय प्रवेश

विज्ञान और धर्म दोनों की उत्पत्ति वातावरण के साथ मानव के द्वारा अभियोजन स्थापित करने के क्रम में होती है।

सभ्यता और मानव संस्कृति के विकास के साथ विज्ञान और धर्म अपने स्वतंत्र क्षेत्र का दावा करते हैं। किन्तु यद्यपि वे स्वतंत्र अस्तित्व एवं अलग कार्य-क्षेत्र का दावा करते हैं, फिर भी चूँकि उनकी उत्पत्ति का एक ही मूल आधार रहा है, इसलिये उनके बीच निकटता एवं संबंध का होना उचित ही है। इसी संबंध की विवेचना हम यहाँ करेंगे।

2.2 मुख्य विषय

हम लोग अपने जीवन के कार्य कलापों में साधारणत: विज्ञान को धर्म का एक दूसरे का कट्टर विरोधी समझते रहे हैं। जिस बिन्दु पर हम धर्म को रखते हैं, उससे बिल्कुल दूरस्थ दूसरी बिन्दु पर विज्ञान को रखते हैं। किन्तु इस तथ्य को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि विज्ञान के क्षेत्र में कम्प्यूटर युग के विकसित होने के बावजूद धर्म का स्थान लुप्त नहीं हुआ है। अभी भी मानसिक शान्ति, जीवन में परम शान्ति की खोज के लिए मानव तरसता है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता है। यद्यपि परम्परा से चली आ रही कई धारणाओं का खंडन विज्ञान अपने अनुसंधानों के द्वारा कर चुका है, फिर भी धर्म हमारे जीवन में अभी भी सक्रिय है। सच्चाई यह है कि कई वैज्ञानिक स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति के हैं।

अत: विज्ञान और धर्म के बीच सही सम्बन्ध का ज्ञान करना अत्यन्त रुचिकर अध्ययन होगा। विज्ञान और धर्म से स्पष्ट रूप में हम क्या समझते हैं, यह जान लेने से समस्या पर काफी प्रकाश पड़ सकता है।

2.2.1 विज्ञान से हम क्या समझते हैं ?

निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर सुव्यस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक जिज्ञासा की विशेषताएँ हैं :

(i) निरीक्षण और प्रयोग द्वारा तथ्यों का एकत्रीकरण

(ii) उनका विश्लेषण एवं अनावश्यक तथ्यों का निराकरण

(iii) कल्पना

(iv) सामान्यीकरण एवं तत्पश्चात् उनकी परीक्षा।

विज्ञान का उद्देश्य दो घटनाओं के बीच कार्यकरण संबंध की स्थापना करना रहता है। विज्ञान की मान्यता है कि यह जगत एक व्यवस्था है, दुर्व्यवस्था नहीं। विज्ञान विश्व में कार्यरत नियमों का उद्घाटन करता है। इस विश्व को समझने का एक प्रयास विज्ञान है, के बिना किसी पूर्वाग्रह के बौद्धिक जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा में केवल बुद्धि का स्थान रहता है, भावना और संवेग का लेश मात्र भी स्थान नहीं रहता। हम कह सकते हैं कि विज्ञान का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है। विज्ञान की एक खास विशेषता यह है कि विज्ञान अपने निष्कर्षों को कभी अन्तिम नहीं मानता है। नये तथ्यों का उद्घाटन कर इसके निष्कर्ष बदले जा सकते हैं, परिमार्जित किये जा सकते हैं। किन्तु विज्ञान आकस्मिकता में विश्वास नहीं करता। विज्ञान का यह भी विश्वास है कि विभिन्न घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध होती है तथा इस सम्बद्धता को ढूँढ़ना हमारा काम है।

2.2.2 धर्म क्या है ?

पिछले पाठ में हमलोग धर्म के स्वरूप की चर्चा कर चुके हैं। धर्म के संबंध में भिन्न-भिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। विचारकों के बीच मतैक्य के अभाव के कारण धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में भी उनके विचारों में एकता नहीं है। कुछ विचारकों के लिये धर्म निष्ठा का विषय है। बुद्धि की उसमें नगण्य भूमिका है। उनके लिए धर्म, रहस्यात्मक अनुभूति पर अथवा ईश्वरीय प्रकाशना पर निर्भर है। इस प्रकार की अनुभूति की सत्यता या ईश्वरीय प्रकाशना की सत्यता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं उठाया जा सकता। ऐसे विचारकों की दृष्टि में धर्म और विज्ञान के बीच कोई मिलन विन्दु नहीं हो सकता। किन्तु कई विचारक धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन के पक्ष में हैं। वे धर्म के हर पक्ष की बौद्धिकता का पक्ष खड़ा करते हैं और धर्म के क्षेत्र से अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयास करते हैं एवं धर्म को अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिये वैज्ञानिक विधि को प्रशस्त करते हैं।

2.2.3 धर्म एवं विज्ञान के बीच सम्बन्ध

धर्म एवं विज्ञान के संबंध में प्रायः तीन प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की जाती हैं। वे इस प्रकार हैं :

I. धर्म और विज्ञान एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं, उन दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् है। एक दूसरे से उन्हें कोई लेना देना नहीं है।

II. धर्म एवं विज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं। उनके बीच शत्रुता का संबंध है। जो धर्म कहता है, विज्ञान उसका खंडन करता है।

III. धर्म और विज्ञान एक दूसरे के साथ असंगत नहीं, बल्कि उनकी संगति एक दूसरे के साथ है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।

I. विज्ञान और धर्म के बीच भेद पर बल देते हुए कुछ विचारक उन्हें एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र मानते हैं और उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की संभावना से इन्कार करते हैं। वे धर्म को रहस्यात्मक अनुभूति अथवा ईश्वरीय प्रकाशना मानते हैं एवं इसलिये विज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। धार्मिक सत्य सर्वथा सत्य और प्रमाणीकरण से परे है। विज्ञान में रहस्यात्मक अनुभूति का कोई स्थान नहीं है। रहस्यात्मक अनुभूति आत्मगत होती है और आत्मगत अनुभूति का विज्ञान में कोई स्थान नहीं। विज्ञान में हर चीज विषयगत होती है। धर्म में वेद, कुरान, बाइबिल और चर्च का स्थान सर्वोपरि होता है। उनकी प्रामाणिकता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगा सकता। किन्तु विज्ञान में किसी भी व्यक्ति या ग्रन्थ को प्रामाणिक नहीं माना जाता। विज्ञान का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है और धर्म का ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष या निर्वाण। विज्ञान का संबंध प्रकृति से है किन्तु धर्म का संबंध अति-प्रातिकृतिक से है। धर्म नैतिकता में विश्वास करता है किन्तु विज्ञान का नैतिकता से कोई संबंध नहीं होता। विज्ञान बुद्धि पर आश्रित है किन्तु धर्म भावना एवं संवेग पर विश्वास करता है। धर्म संवेगात्मक और भावनात्मक व्यापार है। विज्ञान बुद्धि संबंधी व्यापार है।

II. विज्ञान और धर्म के भेद को अत्यन्त तीक्ष्णता से दर्शाते हुए कई विचारक दोनों को एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। धर्म जिसे अंगीकार करता है, उसे विज्ञान अस्वीकार करता है। विज्ञान विकासवाद मानता है, तो धर्म सृष्टिवाद। इस विश्व को विज्ञान क्रमिक विकासवाद का परिणाम मानता है, किन्तु धर्म इस विश्व को ईश्वर की कृति मानता है। इस विश्व की रचना ईश्वर ने एक विशेष समय, शून्य से मात्र इच्छाशक्ति से की। विज्ञान 'शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है' सिद्धान्त के अनुसार शून्य से सृष्टि को कोरी कल्पना करार देती है। विज्ञान के अनुसार यह दुनिया पहले आग का एक गोला थी जो चक्कर काटती थी। इसी चक्कर काटने की दशा में एक चिनगारी छिटक गई और कालक्रम में शीघ्र ठंडी हो गई और शनैः शनैः इसपर उद्भिद, पेड़-पौधे और जीव उत्पन्न हुए। विकासवाद सिद्धान्त इसे विश्व के वर्त्तमान रूप का प्रारम्भ अति सरल रूप से शनैः शनैः जटिल रूप में बदलते-बदलते इस रूप में हुआ है। परिवर्त्तन हो रहा है होता रहेगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि माध्यमिक युग के कट्टर धर्मपंथियों ने कोपरनिकस के सिद्धान्त कि 'पृथ्वी अन्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर घूमती है' का किस प्रकार विरोध किया था और अन्त में गैलिलियो को वैज्ञानिक सिद्धान्त वापस लेना पड़ा और धार्मिक सिद्धान्त कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमती है' स्वीकार करना पड़ा।

विज्ञान और धर्म के बीच निम्नलिखित विरोधों पर बल दिया जा सकता है :

(i) विज्ञान प्रकृति की परीक्षा उनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध जानने के लिये करता है। निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा अपने इस कार्य में विज्ञान सफल होता है। धर्म का संबंध अधिक जटिल 'अति प्राकृतिक' विषयों से है।

(ii) धर्म आत्मगत है, विज्ञान विषयगत। विज्ञान के निष्कर्ष सभी को मान्य हो जाते हैं किन्तु धर्म के निष्कर्ष सभी के द्वारा मान्य नहीं होते। केवल उसी धर्म के अनुयायी उसे सत्य मानते हैं।

(iii) प्रायः सभी धर्म कुछ नैतिक नियमों में विश्वास करते हैं, पूजा, अर्चना और आचार के नियमों का निर्देश करते हैं किन्तु विज्ञान में न आचार-व्यवहार के नियमों की जरूरत होती है, न पूजा, अर्चना की।

(iv) विज्ञान आगमनात्मक है किन्तु धर्म निगमनात्मक। धर्म में धर्म ग्रन्थों एवं धर्मगुरुओं की बातें अकाट्य मानी जाती हैं। किन्तु विज्ञान किसी विचार या कथन को अकाट्य नहीं मानता।

(v) विज्ञान का अतिप्राकृतिक सत्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु धर्म का मुख्य विषय ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नर्क आदि अतिप्राकृतिक सत्ताएँ ही हैं।

(vi) विज्ञान के नियम, विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सत्य सदा परिमार्जन किये जा सकते हैं, किन्तु धर्म के नियम अपरिवर्तनीय होते हैं।

(vii) अन्त में विज्ञान तथ्यों से संबंध रखता है और धर्म का संबंध मूल्यों से है। तथ्यों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है। धर्म उन्हीं तथ्यों को सत्य मानता है जो मूल्यों पर खरे उतरते हैं। इसी कारण विज्ञान और धर्म परस्पर विरोधी समझे जाते हैं।

III. धर्म एवं विज्ञान में उपर्युक्त भेदों के कारण, किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को शीघ्रतापूर्वक उन्हें एक दूसरे का विरोधी समझने की गलती नहीं करनी चाहिए, जैसा कुछ चिन्तक प्रायः किया करते हैं। यह सत्य है कि दोनों में अन्तर है, किन्तु अन्तर को उजागर कर उन्हें एक दूसरे का विरोधी करार देना गलत होगा। तथ्य यह है कि न तो विज्ञान धर्मशून्य है और न धर्म विज्ञान विरोधी। धर्म और विज्ञान का भेद प्रायः यह कह कर बताया जाता है कि धर्म का आधार विश्वास है और विज्ञान का आधार तर्क है। किन्तु वास्तव में यह निष्कर्ष गलत है। यह कहना कि धर्म आस्था या विश्वास पर आधारित है, गलत है। मानव बौद्धिक प्राणी है, बिना तर्क-वितर्क किये वह किसी सत्ता या तथ्य में विश्वास नहीं कर सकता। उसकी धार्मिक सत्ताओं में अन्ध श्रद्धा नहीं है। 'ईश्वर' की सत्ता के लिए वह प्रमाण देता है और जब वह इन प्रमाणों से सन्तुष्ट हो जाता है, तभी उसमें विश्वास करता है। अतः धर्म भी तर्क या बुद्धि पर आधारित रहता है। अकाट्य निष्टा या विश्वास का आधार तर्क ही हो सकता है। इसी प्रकार यह कहना कि विज्ञान केवल तर्क पर बुद्धि पर आधारित है, गलत है। विज्ञान भी किसी न किसी विश्वास का सहारा अवश्य लेता है। विज्ञान 'निरीक्षण' और 'प्रयोग' पर आधारित होता है। निरीक्षण और प्रयोग मानव अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सहारे करता है। जबतक उसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों की समर्थता में विश्वास नहीं रहेगा, तबतक वह निरीक्षण और प्रयोग नहीं कर सकता। इसलिये विश्वास की आवश्यकता वैज्ञानिकों को भी है। इसी प्रकार विज्ञान को सैद्धान्तिक और धर्म को व्यावहारिक कहना भी गलत है। सिद्धान्त और व्यवहार का गहरा संबंध है , बिना सिद्धान्त के व्यावहारिक जीवन में व्यवस्था नहीं आ सकती और व्यावहारिक जीवन बिना सिद्धान्त के चल नहीं सकता। अरस्तू ने उचित ही कहा था कि ''मस्तिष्क हाथ को संचालित करता है और बुद्धि इच्छा शक्ति का संचालक है''।

वास्तव में धर्म और विज्ञान का अधिकार एवं क्रिया-क्षेत्र अलग अवश्य है। आन्तरिक अनुभूति एवं आध्यात्मिक मूल्यों की दुनिया में धार्मिक आत्माएँ प्राणवान रहती हैं—वह संसार विज्ञान के लिये परदेश की तरह है। मूल्यों के बारे में कोई निर्णय विज्ञान नहीं दे सकता। इसी प्रकार भौतिक जगत का क्षेत्र विज्ञान का है। धर्म इस पर अपना निर्णय नहीं दे सकता। पुनर्जन्म, आत्मा एवं ईश्वर की सत्ता पर विज्ञान कुछ कहने में असमर्थ है। विज्ञान एवं धर्म दोनों की अपनी-अपनी सीमा है। विरोध या संघर्ष की संभावना तभी होती है जब दोनों अपनी सीमा का अतिक्रमण कर दूसरे की सीमा में दखल देना शुरू कर देते हैं। वास्तव में दोनों के बीच न कोई विरोध है, न कोई संघर्ष। उनके बीच निरन्तर विरोध का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सी० ई० एम० जोड लिखते हैं कि 'मैंने साधारण सी प्रतिज्ञप्ति स्थापित करने का प्रयास किया है कि विज्ञान और धर्म के बीच कोई संघर्ष नहीं है..........मनुष्य दो भिन्न व्यवस्थाओं का सदस्य है, दो साम्राज्यों का सदस्य है, विज्ञान उनमें केवल एक के बारे में अपनी धारणा व्यक्त करता है।'

विज्ञान ने काफी प्रगति की है। चाँद-सितारों के अध्ययन के बाद अब हम कम्प्यूटर युग में जी रहे हैं। समय एवं दूरी दोनों पर हम विजय प्राप्त कर चुके हैं। किन्तु फिर भी मानवीय समस्या ज्यों की त्यों है। मानसिक शान्ति का अभी भी अभाव है। अभी भी धर्म की आवश्यकता है।

धर्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान विश्व की व्याख्या कार्य-कारण नियम के द्वारा करता है। विज्ञान सिद्ध करता है कि विश्व एक कार्य-कारण व्यवस्था है। धर्म भी प्रमाणित करता है कि इस विश्व में व्यवस्था, प्रयोजन और प्लानिंग है। इस प्रकार विज्ञान धर्म का कार्य करता है। विज्ञान धर्म में फैले हुए अन्धविश्वास, रूढ़िवाद का खंडन कर, धर्म का मार्ग प्रशस्त करता है। विज्ञान धर्म को बौद्धिक आधार प्रदान करता है। विज्ञान और धर्म मानव ज्ञान के अनिवार्य अंग हैं। विज्ञान को अधार्मिक एवं धर्म को अवैज्ञानिक कहना गलत है। धर्म की महिमा बताते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन का कहना है कि ''धर्म के बिना विज्ञान पंगु है और विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है''। धर्मनिष्ठ व्यक्ति अदृश्य शक्ति के रूप में ईश्वर में इस प्रकार निष्ठा रखते हैं कि मनोवांछित फल नहीं भी मिलने पर अपनी निष्ठा से डिगते नहीं और उसी जोश और लगन के साथ अपनी लक्ष्यपूर्त्ति में लगे रहते हैं। यदि वैज्ञानिक में भी इसी तरह की लगन हो जाय तो विज्ञान कितनी उन्नति कर सकता है तथा मानव कितना लाभान्वित हो सकता है—ऐसे उद्‌गार आइन्स्टीन के हैं। विज्ञान और धर्म का आपसी सहयोग वांछनीय है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

विज्ञान के प्रभाव में आकर, कई धार्मिक चिन्तक धार्मिक सिद्धातों को विज्ञान के अनुरूप बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। कुछ दार्शनिक धर्म को नैतिक मूल्यों पर आधारित कर रहे हैं। मानववादी धर्म दार्शनिक ईश्वर पूजा से अधिक मानव संवा पर बल देने लगे हैं। यदि धर्म अपनी हठवादिता त्याग दे तो इसका कोई विरोध विज्ञान से नहीं रहेगा। धर्म और विज्ञान इस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

2.3 सारांश

धर्म एवं विज्ञान के परस्पर संबंध के बारे में विचारकों में मतभेद है। उनमें से कुछ दोनों के बीच किसी प्रकार के संबंध का होना नकारते हैं। वे दोनों को एक दूसरे से स्वतंत्र प्रक्रिया मानते हैं, कुछ अन्य विचारक दोनों के भेदों पर जोर देते हुए मानते हैं कि दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। उनके अनुसार धर्म का आधार श्रद्धा या निष्ठा है किन्तु विज्ञान का आधार तर्क है। उनकी दृष्टि में विज्ञान प्रकृति की खोज करता है। अपने निष्कर्षों को निरीक्षण और प्रयोग पर आधारित करता है, जबकि धर्म का संबंध अतिप्राकृतिक है, ईश्वरीय प्रकाशना और रहस्यात्मक अनुभूति इसके आधार हैं। विज्ञान विषयगत है और धर्म आत्मगत। एक तीसरे वर्ग के विचारक हैं जो धैर्यपूर्वक दोनों के भेद पर विचार करते हैं और एक स्वस्थ धारणा का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है। वे परस्पर निर्भर हैं। उनमें विरोध तभी उत्पन्न होता है जब कोई अपनी मुख्य विषय वस्तु को छोड़ कर अन्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है। जब धर्म इस जड़ जगत के बारे में सिद्धान्त स्थापित करने लगता है या जब विज्ञान अतिप्राकृतिक सत्ताओं जैसे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग-नर्क के बारे में अपना निष्कर्ष देने लगता है तो दोनों में विरोध होने लगता है। विज्ञान और धर्म दोनों में तर्क एवं विश्वास की भूमिका समान रूप से रहती है। विज्ञान भी इन्द्रिय ज्ञान पर विश्वास करता है और धर्म में निष्ठा या विश्वास का स्थान है ही। धर्म भी तर्क-बुद्धि पर आधारित है , बिना तर्क के मानव का कोई भी विश्वास स्थायी नहीं हो सकता। तर्क के द्वारा विज्ञान धर्म के लक्ष्य एवं साधन को प्रकाशित करता है। तर्क के द्वारा ही धर्म अन्धविश्वासों से छुटकारा पा सकता है। धर्म में भी ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये प्रमाणों की जरूरत पड़ती है। अतः धर्म तर्क पर आधारित है, तर्कविहीन नहीं। आइन्स्टीन ने उचित ही कहा है कि ''विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है और धर्म के बिना विज्ञान पंगु है।'' धर्मनिष्ठ व्यक्ति ईश्वर को बिना देखे हुए जिस लगन

और प्रेम से ईश्वरोपासना करते हैं वह विज्ञान के लिये अनुकरणीय है। मनचाहे फल के नहीं मिलने पर भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति की लगन में कमी नहीं होती। ठीक इसी प्रकार की लगन वैज्ञानिकों में (अपने प्रयोग के बार-बार असफल होने पर) यदि आ जाय और वे अपना प्रयास जारी रखें तो विज्ञान तरक्की करेगा और मानव का कल्याण सम्भव होगा।

2.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

विज्ञान शब्द का यहाँ प्रयोग विस्तृत अर्थ में हुआ है, जिसका अर्थ सुव्यवस्थित विशिष्ट ज्ञान होता है।

धर्म शब्द का प्रयोग भी सामान्य अर्थ में किया गया है, जिसका अर्थ निष्ठा एवं उपासना युक्त जीवन है।

संगति शब्द का अर्थ 'मेल' होता है। दोंनो परिपाटियाँ यदि एक साथ निभाई जा सकें तो दोनों परिपाटियों में संगति कहा जायगा।

'पंगु' का अर्थ लँगड़ा यानि जिसे चलने में कठिनाई हो, विज्ञान पंगु है कहने का तात्पर्य है कि विज्ञान प्रगति करने में असमर्थ है।

'अंधा' जो देख नहीं सकता, जो अपनी मंजिल या मंजिल तक पहुँचने का रास्ता नहीं देख सकता है।

2.5 अभ्यास के प्रश्न

2.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) धर्म क। आधार

(क) केवल विश्वास है

(ख) केवल युक्ति है

(ग) न विश्वास है और न युक्ति

(घ) विश्वास एवं युक्ति दोनों है।

उत्तर – (घ)

(ii) धर्म और विज्ञान

(क) एक ही है

(ख) बिल्कुल अलग है

(ग) आंशिक रूप से एक और आंशिक रूप से भिन्न है

(घ) एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध है।

उत्तर – (ग)

2.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) किस प्रकार विज्ञान एवं धर्म एक दूसरे के विरूद्ध हैं?

उत्तर – देखें इकाई 2.3 II

(2) न तो विज्ञान अधार्मिक है और न धर्म अवैज्ञानिक व्याख्या करें

उत्तर – देखें इकाई 2.3 III

2.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. धर्म और विज्ञान को संबंध की समीक्षा करें।

उत्तर – देखें ईकाई 2.3 I

2.6 प्रस्तावित पाठ

1. हेस्टिंग्स कृत	:	**इन्डसाइकलोपिडिया ऑफ रिलेजन एण्ड एथिक्स**
2. डेविड ह्यूम	:	**डायलोग्स कन्ससर्निंग रिलिजन एण्ड साइन्टिफिक आउटलुक**
3. टी० आर० माइल्स	:	**रिलिजन एण्ड साइन्टिफिक आउटलुक**
3. डब्ल्यु० टी० स्टेस	:	**रिलिजन एण्ड लुक मॉडर्न माइन्ड**
4. हरेन्द्र वर्मा	:	**धर्मदर्शन**

◆◆◆

धर्म और नैतिकता

पाठ-संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 विषय प्रवेश
3.2 मुख्य विषय
 3.2.1 धर्म प्रधान और मौलिक है : नैतिकता की उत्पत्ति धर्म से होती है
 3.2.2 धर्म का विकास नैतिकता से हुआ है
 3.2.3 धर्म और नैतिकता का विकास साथ-साथ होता है
 3.2.4 धर्म और नैतिकता एक दूसरे से स्वतंत्र हैं
 3.2.5 धर्म और नैतिकता में परस्पर निर्भरता का संबंध है
3.3 सारांश
3.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
3.5 अभ्यास के प्रश्न
 3.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
 3.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
 3.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.6 प्रस्तावित पाठ

3.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धर्म और नैतिकता के बीच सम्बन्ध के बारे में विभिन्न विचारों की व्याख्या एवं समीक्षा करना है ।

3.1 विषय प्रवेश

पिछले पाठ में हमलोगों ने धर्म एवं विज्ञान के संबंध की विवेचना की थी । धर्म और नैतिकता के बीच उससे कहीं अधिक घनिष्ठ संबंध है । नैतिकता के बिना हम धर्म की कल्पना भी नहीं कर सकते । धर्म का एक अनिवार्य अंग नैतिकता है । किन्तु धर्म और नैतिकता के संबंध में विचारकों ने विभिन्न धारणाएँ व्यक्त की हैं । हम यहाँ उन्हीं विचारों का अध्ययन करेंगे ।

3.2 मुख्य विषय

क्या धर्म अनिवार्यत: नैतिकता पर निर्भर है ? क्या नैतिकता को एक सबल आधार धर्म ही प्रदान कर सकता है ?—आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो ऐसे विचारकों के मन को आन्दोलित करते हैं जो धर्म और नैतिकता के संबंध में विचार करते हैं। धर्म और नैतिकता के बीच वास्तविक संबंध को लेकर विद्वानों में आपसी मतभेद है। हमलोग इस संबंध में विभिन्न प्रकार के मतों को निम्नलिखित प्रकार के वर्गों में रख सकते हैं–

1. धर्म मौलिक है, नैतिकता धर्म गौण है। धर्म से नैतिकता की उत्पत्ति हुई है।
2. नैतिकता मौलिक है, धर्म गौण है। धर्म का उदय और विकास नैतिकता से हुआ है।
3. धर्म और नैतिकता की उत्पत्ति साथ-साथ हुई है।
4. धर्म और नैतिकता एक दूसरे से स्वतंत्र, स्वायत्त तथा पृथक् हैं। न तो धर्म नैतिंकता पर निर्भर है और न नैतिकता धर्म पर निर्भर है।
5. धर्म और नैतिकता साथ-साथ चलते हैं। वे एक दूसरे पर आधारित हैं।

3.2.1 धर्म प्रधान और मौलिक है। नैतिकता की उत्पत्ति धर्म से होती है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि धर्म नैतिकता की तुलना में अधिक पुरातन है। धर्म से ही नैतिकता की उत्पत्ति हुई है। मानव ने पहले धर्म को अपनाया। धार्मिक परम्पराओं का निर्वाह करने के क्रम में उन्होंने नैतिक नियमों का विकास किया। वैज और टायलर जैसे विद्वानों की धारणा है कि आदिम धर्मों में नैतिकता का सर्वथा अभाव है। आदिम धर्मों का नैतिकता से कोई लेना-देना नहीं है। उनके अनुसार जब आदिम धर्मों का विकास प्राकृतिक धर्मों में हुआ तब नैतिकता का उदय हुआ। वैज और टायलर की धारणा का देकार्त और लॉक ने भी समर्थन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म का स्थान नैतिकता से पहले आता है।

वेज और टायलर की यह धारणा है कि आदिम धर्मों का नैतिकता से कुछ लेना-देना नहीं है, नैतिकता का सम्बन्ध एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा पर आधारित है। उन लोगों के मन में नैतिकता के एक बहुत ही विकसित स्वरूप का चित्र था और इस प्रकार की नैतिकता का अभाव उन्हें आदिम धर्मों में नजर आया, जिस प्रकार धर्म का धीरे-धीरे क्रमिक विकास हुआ, उसी प्रकार नैतिकता और नैतिक बोधों का भी कई अवस्थाओं से हुआ है। आदिम धर्मों में भी किसी न किसी प्रकार का प्रारंम्भिक रूप में नैतिकता की धारणा भी अवश्य मौजूद रही होगी। कुछ रीति-रिवाजों के रूप में नैतिक धारणाएँ आदिम धर्मों में मौजूद हों। ऐसे विचार आज हमें हास्यास्पद और अनैतिक मालूम पड़ सकते हैं। किन्तु इस अवस्था में नैतिकता की उपस्थिति को बिल्कुल नकार जाना उचित नहीं होगा एवं यह न्यायसंगत भी नहीं होगा। आदिम जातियों के धर्म में अभिन्न रूप से जुड़े हुए कई रीति-रिवाज एवं प्रथाएँ जारी थीं जो धर्म के अंग ही समझे जाते थे। इंन रीति-रिवाज की अवहेलना आदिम देवी-देवताओं की नाराजगी का कारण माना जाता था और जिसकी सजा उन्हें भुगतनी पड़ती थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन जनजातियों के प्रचलन एवं नैतिक विचार, उनके धर्म से बिल्कुल जुड़े हुए थे। अत: आदिम धर्मों में नैतिकता का सर्वथा अभाव मानना उचित नहीं दिखता।

3.2.2 कुछ अन्य विचारकों की धारणा है कि धर्म का विकास नैतिकता से ही हुआ है

दूसरे शब्दों में, यह विचार एक दूसरे छोर पर है। इनके अनुसार नैतिकता ही प्रधान है और धर्म की उत्पत्ति नीति से ही हुई है। नैतिकता की धारणा मानव को एक नैतिक व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है, जो मनुष्य को उसके अच्छे एवं बुरे कर्मों के अनुसार पुरस्कार एवं दण्ड देती है। इस प्रकार ईश्वर की धारणा है कि ईश्वर पापियों को सजा देता है और सद्कर्मियों को पुरस्कार देता है, धर्म को एक ठोस आधार प्रदान करता है।

नैतिकता का महत्त्व मान्य आदर्शों और आचार के मान्य मानकों के अनुपालन में निहित है। हम इन आदर्शों के पालन करने में किस सीमा तक समर्थ हैं या असफल हैं– यह निर्भर करता है कि हम किस रूप में इन आदर्शों को ग्रहण करते हैं। ये आर्दश हमें इसलिए मान्य होते हैं क्योंकि ये धर्म द्वारा प्रतिपादित हैं। इन आदर्शों के पीछे धर्म का हाथ होता है। इन आदर्शों को प्रदान करने वाला कोई ऐसी सत्ता या शक्ति होनी चाहिये जो व्यक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण करता हो। इस विचारधारा का समर्थन काण्ट और मार्टिन्यु करते हैं।

3.2.3 धर्म और नैतिकता का विकास साथ-साथ होता है

यह कहना कि धर्म पहले से था और नैतिकता की उत्पत्ति इससे हुई या यह कहना कि नैतिकता से धर्म की उत्पत्ति हुई, नैतिकता पहले से विद्यमान थी – दोनों धारणाएँ गलत हैं। न तो धर्म और न नैतिकता पहले से थी। सच्चाई समाजशास्त्रियों के अनुसार (जिसमें मैकआइवर का नाम प्रमुख है) यह है कि दोनों का साथ-साथ विकास हुआ एवं दोनों एक दूसरे को संपुष्ट करते हैं। धर्म और नैतिकता परस्पर एक दूसरे को दृढ़ और मजबूत बनाते हैं। मैकआइवर के शब्दों में ''हम नहीं कह सकते कि धर्म पहले आया था नैतिकता, ठीक वैसे ही जैसे हम नहीं कह सकते कि प्रचलित रीति-रिवाज या नियम-कानून में कौन पहले आया। नैतिक नियमों ने धार्मिक विश्वासों के दृढ़ होने की प्रक्रिया में यथेष्ठ रूप से सहायता प्रदान की है और धार्मिक नियमों ने प्रचलित नैतिक नियमों को अति प्राकृतिक आदेशों द्वारा दृढ़तापूर्वक सबल बनाया है।

3.2.4 धर्म और नैतिकता एक दूसरे से स्वतंत्र हैं

कुछ विचारकों का मत है कि धर्म और नैतिकता साथ-साथ नहीं रह सकते और उन्हें एक दूसरे से अलग ही रखना चाहिए। स्पेन्सर, बरट्रेन्ड रसल, हक्सले और अन्य कई विद्वानों की धारणा है कि धर्म और नैतिकता का अपना-अपना अलग उद्गम स्रोत है। उनकी एक दूसरे से स्वतंत्र उत्पत्ति एवं विकास होता है। वे एक-दूसरे से स्वतंत्र, स्वायत्त और बिल्कुल अलग हैं। उनका तर्क यह है कि धार्मिक विचार, बोध एवं धार्मिक मान्यताएँ संशय एवं अनिश्चितता के डोर से बँधी होती हैं। वे एक प्रकार से संशयात्मक हैं किन्तु नैतिक धारणाएँ संशय और अनिश्चयता से मुक्त होती हैं। नैतिक अवधारणाएँ सभी को मान्य होती हैं। वे सत्य मानी जाती हैं। नैतिकता स्वयं अपने ठोस आधार पर खड़ी रह सकती हैं। नीत्शे इस तरह की धारणा का समर्थन करते हैं जब वे कहते है ''धर्म का स्वत: नैतिकता से कोई सरोकार नहीं होता।'' इनका तर्क है कि धर्म के संप्रत्यय अनिश्चित तथा संदिग्ध होते हैं और नैतिक संप्रत्यय स्पष्ट तथा असंदिग्ध होते हैं। नैतिक नियम सर्वमान्य होते हैं। नैतिकता अपने आप में पूर्ण हैं तथा वे स्वयं अपने सबल आधार पर अवस्थित रह सकती हैं । इस प्रकार इन विचारकों के अनुसार नैतिक नियमों का सर्वोत्तम विकास तभी हो सकता है जब वे धर्म से स्वतंत्र और अलग रहते हैं। इस तरह की धारणा उन लोगों को भी पसन्द है जो चर्च से अलग रहकर समाज सेवा करना चाहते हैं।

धर्म और नैतिकता के बीच निम्नलिखित भेदों को दिखाते हुए वे धर्म एवं नैतिकता की स्वतंत्रता के पक्ष में तर्क पेश करते हैं –

(क) कोई काम नैतिक दृष्टि से गलत हो सकता है किन्तु धार्मिक दृष्टि से उचित हो सकता है। उदाहरणार्थ अस्पृश्यता नैतिक दृष्टि से अनुचित है, किन्तु वर्ण भेद मानने वाले हिन्दू धर्म के लिये उचित। इसी तरह सती प्रथा नैतिक दृष्टि से अनुचित है किन्तु धार्मिक दृष्टि से धर्म सम्मत एवं उचित। इसी प्रकार देवताओं के नाम पर पशुबलि धर्म के लिए उचित होते हुए भी नैतिक दृष्टि से अमानुषिक और गलत है।

(ख) धर्म का केन्द्रविन्दु 'ईश्वर' है, किन्तु नैतिकता का केन्द्र विन्दु मानव एवं उसका आचरण है। फिर धर्म में मानव एवं किसी सर्वोपरि शक्ति के बीच संबंध की बात करते हैं, किन्तु नैतिकता में मानव का मानव के संबंध की केवल बात करते हैं।

(ग) धर्म में किसी सर्वोपरि शक्ति में प्रबल विश्वास आवश्यक है किन्तु नैतिकता में केवल मानव के चरित्र और आचरण से हमें सरोकार रहता है।

(घ) धर्म का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र से अधिक व्यापक होता है। धर्म में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों प्रकार के मूल्यों से संबंध रहता है, किन्तु नैतिकता में केवल एक ही मूल्य शिवं से संबंध रहता है।

(ङ) धर्म में अति प्राकृतिक शक्तियों के आदेशों की दुहाई दी जाती है। 'ईश्वर' या 'ईश्वर का क्रोध' 'नर्क में स्थान' आदि का हवाला देकर लोगों को धर्म की राह में प्रवृत्त किया जाता है। किन्तु नैतिक आदेश या तो वाह्य होते हैं या आन्तरिक। सामाजिक प्रताड़ना, जाति से संबंध विच्छेद वाह्य नैतिक आदेश हैं। अन्तरात्मा की आवाज आन्तरिक आदेश है। ये आदेश अति प्राकृतिक नहीं होते।

(च) नैतिकता की तुलना में धर्म में बहुत अधिक भूमिका संवेगों एवं भावनाओं का होता है। संवेगों एवं भावनाओं की कोई भूमिका नैतिकता में नहीं रहती। नैतिकता में कर्त्तव्य का एकमात्र स्थान होता है। मैथ्यु आर्नल्ड ने संवेग से प्लावित नैतिकता को ही धर्म की परिभाषा कहा है।

3.2.5 धर्म और नैतिकता में परस्पर निर्भरता का संबंध है

धर्म और नैतिकता में कई विन्दुओं पर भेद के बावजूद कुछ विचारक दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर हॉफडिंग ने 'मूल्यों का सरंक्षण करना ही धर्म' माना है। नैतिक मूल्यों के बिना धर्म की अवधारणा नहीं हो सकती। नैतिकता धर्म का अनिवार्य अंग है। वास्तव में दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जो शुभ है वह ईश्वर द्वारा इच्छित है। ईश्वरेच्छा की पूर्त्ति और नैतिक कर्त्तव्यों का पालन एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं। नैतिकता मानव के धार्मिक विश्वासों को चिरस्थायी बनाने में सहायता करती है एवं धर्म अपने पारलौकिक आदेशों द्वारा उसे सबल बनाता है। यही कारण है कि नैतिक संप्रत्ययों की पारलौकिक उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। धार्मिक कृत्यों को करने के लिये कई धर्म नैतिक आचरणों का पालन आवश्यक बतलाते हैं। कई प्रकार के जैविक नियमों का पालन और सदाचारी जीवन बिताने के बाद ही मानव ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी बनता है। गौतम बुद्ध ने अष्टांग मार्ग को दु:ख निरोध अथवा निर्वाण का आवश्यक तत्त्व माना था। धर्म नैतिकता को पारलौकिक आदेश से प्रशस्त करता है। मानव द्वारा प्राप्त नैतिक मूल्यों को धर्म में समावेश किया जाता है। इन नैतिक मूल्यों को धर्म सबल बनाकर पुन: मानव के लिये उपयोगी बनाता है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म का अंग बनने के पहले दस आदेश नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकार किये जाते थे। नैतिक आदेशों को धार्मिक स्वीकृति मिल जाने पर उनका स्थायित्व बढ़ जाता है और इन मूल्यों को विषयगत माना जाने लगा है। नैतिक आदेश धार्मिक स्वीकृति मिल जाने पर आत्मगत नहीं रहते। नैतिकता की मान्यताओं (Postulates) में एक मान्यता ईश्वर में विश्वास है। ईश्वरोक्त या ईश्वर की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर नैतिक नियम स्थायी हो जाते हैं और नैतिकता को एक ठोस आधार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार धर्म और नैतिकता संयुक्त रूप से मानव आचरण को नियंत्रित करते हैं। नैतिकता और धर्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। धर्म के बिना नैतिकता और नैतिकता के बिना धर्म का कोई ठोस आधार नहीं हो सकता।

प्रोसेफर एट किन्सनली के विचार में नैतिकता धर्म का शोधक (Purifier) है। उनके अनुसार नैतिकता धर्म का सबसे बड़ा शोधक है। नैतिकता अनैतिक और निम्न कोटि के धर्मों की आलोचना करता है और उनके स्वरूप को परिमार्जित करता है। कई धार्मिक चिन्तकों ने भी हमें ऐसे शुभ का वरण करने से बचने के लिये परामर्श दिया है जो नैतिक दृष्टि से शुभ नहीं हैं। धर्म से अन्धविश्वास को दूर कर नैतिकता ने धर्म का बड़ा ही कल्याण किया है। अछूतोद्धार, सतीप्रथा का उन्मूलन कर, भयावह एवं राक्षसी रूप में दण्ड देने की प्रथा के विरोध में आवाज उठा कर धर्म में सुधार लाने का शुभ प्रयास नैतिकता ने किया है।

यह सच है कि धर्म और नैतिकता के बीच कई भेद हैं किन्तु वे एक दूसरे से बहुत अलग-थलग नहीं हैं। यह भी सही है कि मानव बिना धार्मिक हुए भी नैतिक, सदाचारी हो सकता है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नैतिकता का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'इच्छा स्वतंत्रता' एवं 'आत्मा की अमरता' नैतिकता की मान्यता के रूप में स्वीकार की जाती है। धर्म भी इन मान्यताओं को स्वीकार करता है। नैतिक मूल्य, धार्मिक मूल्य हैं और धार्मिक मूल्य नैतिक मूल्य हैं। नैतिकता धर्म का आवश्यक तत्त्व है। हम नैतिकता के बिना धर्म की कल्पना नहीं कर सकते। धर्म का मूल्यांकन नैतिक मूल्यों के आलोक में किया जा सकता है। ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न साधनों में नैतिकता का प्रमुख स्थान है। कुछ समाजशास्त्रियों की दृष्टि में धर्म को सभी रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों से मुक्त होना चाहिये और नैतिक मूल्यों की वृद्धि के लिये प्रयास करना चाहिये। अगस्त कॉम्टे ने ईसा मसीह के नैतिक उपदेशों पर आधारित ऐसे ही धर्म का समर्थन किया है। हॉबहाउस ने धर्म को संवेग जनित नैतिकता कहा है। उनकी दृष्टि से आज के युग में अतिप्राकृतिक धर्मों का कोई स्थान नहीं है। ऐसे धर्म सामाजिक प्रगति में बाधक ही सिद्ध हो रहे हैं।

सारांश यह है कि धर्म और नैतिकता के बीच एक विभाजन रेखा खीचंना संभव नहीं है। दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उनके बीच गहरी एकता है जिसकी अवहेलना नहीं की सकती। गैलवे ने उचित ही कहा था, कि धर्म और नैतिकता को एक दूसरे से विभाजित करने का प्रयास मानव स्वभाव के आंशिक एवं छिछले ज्ञान पर आधारित हैं। वस्तुतः सच्चे धर्म एवं सच्ची नैतिकता के नियम एक दूसरे के सदृश ही होते हैं। केवल मिथ्या धर्म ही नैतिकता से पृथक एवं भिन्न दिखते हैं। जब धर्म अतिशय कट्टरवादी हो जाता है तो इसका नैतिकता से विरोध शुरू हो जाता है। लेकिन जब धर्म कट्टरवादिता का त्याग कर देता है तो यह नैतिकता से अवियोज्य हो जाता है।

3.3 सारांश

धर्म एवं नैतिकता के संबंध के बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ उन्हें बिल्कुल असम्बन्धित मानते हैं तो कुछ उन्हें एक दूसरे के विरोधी मानते हैं। कतिपय चिन्तक धर्म को प्रधान और नैतिकता को धर्म प्रसूत मानते हैं एवं कुछ अन्य चिन्तक नैतिकता को प्रधान एवं धर्म को इससे उत्पन्न मानते हैं। हर प्रकार की धारणा के पक्ष में तर्क दिये जाते हैं। इन सभी विचारों के गुण दोषों का लेखा-जोखा करके ही एक सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। नैतिकता एवं धर्म को एक दूसरे से गहरे रूप से संबंधित मानना ही इस संबंध में सच्ची धारणा है क्योंकि सच्चा धर्म एवं सच्ची नैतिकता एक ही पाठ पढ़ाते हैं। नैतिकता धर्म का शोधक है और धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति बिना धार्मिक हुए भी नैतिक या सदाचारी हो सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि नैतिकता को धर्म से विलग किया जा सकता है। दोनों के बीच बहुत ही गहरा संबंध है। दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से मिला हुआ है। नैतिकता धर्म का मूल्यांकन करती है और धर्म नैतिकता को ठोस आधार प्रदान करता है। दोनों एक दूसरे के साथ चलते हैं और संयुक्त रूप से मानव व्यवहार को व्यवस्थित करते हैं और समाज के हितार्थ काम करते हैं।

3.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

मौलिक = जो पहले आता है, जो मूल में है

अप्रधान = जो बाद में आता है, जो मूल में नहीं है

रूढ़िवादी = जो एकांगी हो, जो किसी तथ्य को बिना विचार किये ही मान लेता हो

3.5 अभ्यास के प्रश्न

3.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) नैतिकता एवं धर्म

(1) एक दूसरे के साथ गहरे रूप से संबंधित है

(2) एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध है

(3) आंशिक रूप से विरुद्ध है

(4) एक दूसरे से स्वतंत्र है।

उत्तर – (1)

3.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. किस प्रकार धर्म मौलिक है ?

उत्तर – देखिए 2.1.1

2. किस प्रकार नैतिकता मौलिक है ?

उत्तर – देखिए 2.2.1

3. किस प्रकार नैतिकता एवं धर्म एक दूसरे से स्वतंत्र हैं ?

उत्तर – देखिए 2.4.1

3.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नैतिकता एवं धर्म के बीच संबंध की स्पष्ट व्याख्या करें।

उत्तर – देखिए 2.5.1

3.6 प्रस्तावित पाठ

1. एटकिन्सन ली : **ग्राउंडवर्क ऑफ फिलासफी ऑफ रिलिजन**

2. जी० गैलवे : **द फिलासफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 4

धर्म एवं ईश्वरशास्त्र

पाठ-संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 विषय प्रवेश

4.2 मुख्य विषय

4.2.1 ईश्वरशास्त्र

4.2.2 धर्म क्या है ?

4.2.3 धर्म और ईश्वर शास्त्र का संबंध

4.3 सारांश

4.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

4.5 अभ्यास के प्रश्न

4.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

4.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

4.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

4.6 प्रस्तावित पाठ

4.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धर्म और ईश्वरशास्त्र के संबंध की व्याख्या करना है।

4.1 विषय प्रवेश

प्राय: लोग धर्म और ईश्वरशास्त्र को एक ही समझ बैठते हैं। इसका कारण है कि हर ईश्वरवादी धर्म का अपना अलग ईश्वरशास्त्र होता है। इस प्रकार ईस्लाम धर्म का इस्लामी ईश्वरशास्त्र होता है, इसाई धर्म का इसाई ईश्वरशास्त्र होता है। प्रोटेस्टेन्ट ईश्वरशास्त्र, कैथोलिक ईश्वरशास्त्र आदि अलग ईश्वर शास्त्र होता है। प्रस्तुत पाठ इस भ्रान्ति को दूर करने का एक प्रयास है।

4.2 मुख्य विषय

ईश्वरशास्त्र क्या है तथा धर्म से क्या सरोकार है ? यह जानना तभी संभव होगा जब हम ईश्वर शास्त्र का अर्थ समझ लें। ईश्वरशास्त्र का अर्थ है वह विद्या जो ईश्वर के बारे में ज्ञान दे। ईश्वरपूजा, भक्ति तथा आराधना आदि विषयों का ज्ञान ईश्वरशास्त्र देता है। ईश्वर की धारणा का सुव्यस्थित अध्ययन करना ही ईश्वर शास्त्र है।

4.2.1 ईश्वरशास्त्र

हर धर्म का अपना ईश्वरशास्त्र होता है जो उस धर्म संबंधी सारी समस्याओं का समाधान करता है तथा उस धर्म के विरुद्ध उठाई गयी सभी आपत्तियों का उत्तर देने का प्रयास करता है। ईश्वर विज्ञान उस विशिष्ट धर्म के अनुसार ही आपत्तियों को सुलझाता है एवं लोगों की आस्था उस विशिष्ट धर्म में पुष्ट करता है। ईश्वरशास्त्र का उद्देश्य सिद्धांतों एवं मान्यताओं को व्यवस्थित करना है। इसका उद्देश्य धार्मिक अनुभूतियों की आलोचना करना नहीं है (जिससे उसका उदय हुआ है) बल्कि विश्वसनीय ढंग से इस प्रकार की अनुभूति को प्रस्तुत करना है। गैलवे के अनुसार ईश्वरशास्त्र का उद्देश्य किसी भी धर्म के सिद्ध सत्यों को अभिव्यक्त करना है जिसने किसी विशेष धर्म के मान्य मूल्यों के रूप में अपने को स्थापित कर लिया है और यह उन्हें बोधगम्य आकार में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है ताकि शिक्षा दी जा सके और वे एक धार्मिक समुदाय के लिए एकता के सूत्र के रूप में कार्य कर सकें। ईश्वरशास्त्र के बारे में दूसरी जानने के योग्य बात यह है कि यह अपने धर्म के धर्मग्रन्थों को अधिकृत स्रोत मानता है। धर्मग्रन्थ के वचनों को ईश्वरशास्त्र आँख बन्द कर सत्य मानता है और उन्हें ही धर्म और उपासना का आधार मानता है। ईश्वरशास्त्र इन वचनों की सत्यता प्रमाणित करने की कोई चेष्टा भी नहीं करता है, उनका मूल्यांकन नहीं करता है। उस धर्म के अन्दर जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, केवल उसी का समाधान उसी धर्म की दृष्टि से करना इसका उद्देश्य होता है। ईश्वरशास्त्र उस धर्म के

(क) सभी उद्घाटित रहस्यों को एवं धर्मग्रन्थों को अकाट्य एवं प्रामाणिक मानता है।

(ख) केवल श्रद्धा एवं निष्ठा के आधार पर कई उक्तियों को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करता है।

(ग) उस धर्म के विरुद्ध आपत्तियों का समाधान उसी धर्म के अनुसार उसी धर्म की मान्यताओं के आधार पर किया जाता है। ईश्वरशास्त्र उस धर्म के अनुयायियों के लिये ही लाभदायक होता है, न कि किसी अन्य धर्म के अनुयायियों के लिए। ईश्वरशास्त्र इस प्रकार व्यापक शास्त्र नहीं है। इसकी उपयोगिता केवल विशिष्ट धर्म के लिये ही है। ईश्वरशास्त्र आन्तरिक आपत्तियों एवं समस्याओं के समाधान के लिए ही उपयोगी होता है। धर्म पर बाहर की आपत्तियों का समाधान ईश्वरशास्त्र नहीं करता। ईश्वरशास्त्र महत्वपूर्ण है किन्तु इसका महत्त्व केवल उसी धर्म के लिये है जिसका वह ईश्वरशास्त्र है। इस प्रकार ईश्वरशास्त्र ईश्वरवादी धर्म का ही अंग है, अन्य धर्मों का नहीं। ईश्वरशास्त्र धर्मनिरपेक्ष से ही संबंध रखता है, उसी विशिष्ट धर्म के धर्मग्रन्थों को सर्वोपरि मानता है, उसे ही आप्तवचन मानता है।

4.2.2 धर्म क्या है ?

धर्म के बारे में और उसके स्वरूप के बारे में हम प्रथम पाठ में पढ़ चुके हैं। धर्म कई प्रकार के होते हैं। कुछ धर्म ईश्वरवादी होते हैं तो कुछ धर्म अनीश्वरवादी। ईश्वरशास्त्र का संबंध केवल ईश्वरवादी धर्मों के साथ हो सकता है। अनीश्वरवादी धर्मों का कोई संबंध ईश्वरशास्त्र से नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरशास्त्र ईश्वर की धारणा की विवेचना करता है।

4.2.3 धर्म और ईश्वरशास्त्र का संबंध

धर्म और ईश्वर मीमांसा का संबंध वृक्ष और उसकी शाखाओं के संबंध जैसा ही है। धर्म समष्टि है तो ईश्वरशास्त्र व्यष्टि। धर्म का एक अंश या अंग ईश्वरशास्त्र है। धर्म मानव की सर्वव्यापी अभिवृत्ति है अर्थात् मानव किसी सर्वोपरि आदर्श के लिए अपना सब कुछ तन, मन, धन न्योछावर कर देता है। वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रतिबद्ध है। ईश्वर शास्त्र भी धर्म के प्रति प्रतिबद्ध है– उस धर्म के प्रसार एवं प्रचार के लिए पूर्णतः कटिबद्ध है। धर्मशास्त्री अपने धर्म की पुष्टि एवं बचाव की भरपूर चेष्टा करता है। वह विरोधियों के सभी तर्कों एवं सभी आपत्तियों का धर्म की ओर से उत्तर देता है। लोगों की शंकाएँ दूर करता है।

विशिष्ट धर्म के लिए ईश्वरशास्त्री की मनोवृत्ति श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्ति मूलक होती है। धर्म में भी श्रद्धा, निष्ठा एवं भक्ति की मनोवृत्ति धर्म के अनुपालकों में होती है।

ईश्वरशास्त्र ईश का विज्ञान है। किसी खास धर्म के ईश्वर की विवेचना करना ईश्वर शास्त्र का कार्य क्षेत्र है।

इस प्रकार धर्म एवं ईश्वरशास्त्र को समझ लेने के पश्चात् हम दोनों के भेदों का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

1. धर्म ईश्वरशास्त्र से अधिक व्यापक है। ईश्वरशास्त्र केवल ईश्वर के प्रत्यय की विवेचना करता है और यह विवेचना भी कोई एक विशिष्ट ईश्वरवादी धर्म की। धर्म केवल ईश्वर की धारणा से ही सम्बन्धित नहीं होता, बल्कि मानव ईश्वर के प्रति अपनी निष्ठा को किस प्रकार उपासना, प्रार्थना आदि क्रियाकलापों में व्यक्त करता है। किन्तु ईश्वरशास्त्र केवल ईश्वर की धारणा, उसके प्रति शंकाओं एवं आपत्तियों का निराकरण करता है।

2. धर्म का आवश्यक अंग नैतिकता है, किन्तु ईश्वरशास्त्र में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है।

3. धर्म कई प्रकार के हो सकते हैं। ईश्वरशास्त्र केवल ईश्वरवादी धर्मों का होता है। विभिन्न ईश्वरवादी धर्मों के अलग-अलग ईश्वरशास्त्र होते हैं। धर्म ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी धर्म को नहीं होती।

4. धर्म के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक नहीं है। जैन धर्म तथा बुद्ध धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता है फिर भी धर्म कहलाते हैं। ईश्वरशास्त्र के लिये ईश्वर में विश्वास आवश्यक है।

5. आदिम धर्मों में ईश्वर के स्वरूप की कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं मिलती, फिर भी उनकी गणना धर्मों में की जाती है। ईश्वरशास्त्री उन्हें धर्म नहीं मान सकते, क्योंकि उनका संबंध किसी भी धर्म के ईश्वर की धारणा से ही रहती है।

6. धर्म में मानव चेतना के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पहलू अवश्य होते हैं। धार्मिक सत्यों की प्रस्थापना किसी भी धर्म में तर्क एवं बुद्धि द्वारा की जाती है। ईश्वरशास्त्र ईश्वर प्रकाशना पर निर्भर करता है। तर्क या बुद्धि की कोई भी भूमिका ईश्वरशास्त्र में नहीं होती। ईश्वरशास्त्र उक्त धर्मों की संपुष्टि उक्त धर्म के धर्मग्रन्थों द्वारा ही कर सकती है।

7. ईश्वरशास्त्री की अभिवृत्ति पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होती। वे उस धर्म के उसूलों से बँधे हुए होते हैं। धर्म पूर्वाग्रहों से मुक्त एवं किसी भी बाध्यता से बंधा नहीं होता।

उपरोक्त भेदों के बावजूद धर्म एवं ईश्वरशास्त्र को कई बार एक दूसरे से पृथक् रखना कठिन होता है। हाल को हुए सांस्कृतिक विकास के परिणामस्वरूप ईश्वरशास्त्र में वर्क को स्थान दिया जाने लगा है। विश्वमूलक विचारों पर विज्ञान एवं दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है।

4.3 सारांश

प्रत्येक ईश्वरवादी धर्म का अपना एक ईश्वरशास्त्र होता है जो उस धर्म के संबंध में उठाये गये संशयों तथा आपत्तियों का समाधान उसी धर्म की दृष्टि से करता है और धर्म के अनुयायियों की निष्ठा को दृढ़ करता है। इस प्रकार ईश्वरशास्त्र धर्म का एक अंग हो जाता है। अनीश्वरवादी धर्मों का कोई ईश्वरशास्त्र नहीं होता है। धर्म का क्षेत्र इस प्रकार ईश्वरवाद से अधिक व्यापक होता है। धार्मिक अनुभूतियाँ धर्म और ईश्वरशास्त्र दोनों की विषयवस्तु है। धर्म में बौद्धिक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक तीनों तत्त्व पाये जाते हैं। ईश्वरशास्त्र ईश्वर एवं धार्मिक अनुभूतियों को धार्मिक विश्वास के द्वारा पुष्ट करने का प्रयास है। ईश्वरशास्त्र आस्था पर अधिक बल देता है। संस्कृति के विकास के साथ ईश्वरशास्त्र का क्षेत्र कुछ अधिक व्यापक हो गया है क्योंकि ईश्वरशास्त्र

भी धार्मिक विश्वासों को बौद्धिक आधार प्रदान करने का प्रयास करता है। ईश्वर शास्त्र में धर्म के सदृश ईश्वर के स्वरूप, जगत की सृष्टि एवं विकास, मानव की उत्पत्ति आदि पर की व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है।

4.4 इस पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

ईश्वरशास्त्र, ईश्वर + शास्त्र अर्थात् वह शास्त्र जो ईश्वर के प्रत्यय, उसके स्वरूप आदि की मीमांसा करे किन्तु आधार केवल धार्मिक अनुभूति और धर्मग्रन्थ ही रहता है।

4.5 अभ्यास के प्रश्न

4.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) ईश्वरशास्त्र

(क) हर धर्म का आवश्यक अंग है

(ख) केवल ईश्वरवादी धर्मों का अंग है

(ग) केवल अनीश्वरवादी धर्मों का अंग है

(घ) मार्क्सवादी धर्म का अंग है।

उत्तर – (ख)

(ii) धर्म और ईश्वरशास्त्र

(क) एक-दूसरे के विरोधी हैं

(ख) एक ही है

(ग) एक दूसरे से स्वतंत्र है

(घ) आंशिक संबंध है

उत्तर – (घ)

4.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वरशास्त्र के विषय एवं कार्यों का विवरण दें।

उत्तर – 4.2.1

4.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. धर्म एवं ईश्वरशास्त्र के बीच संबंध एवं भेद का उल्लेख करें।

उत्तर – 4.2.2, 4.2.3

4.6 प्रस्तावित पाठ

1. गैलवे जी : **द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
2. ब्राइटमैन, इ० एस० : **ए फिलासफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 5

धार्मिक चेतना

पाठ-संरचना

5.0 उद्देश्य
5.1 विषय प्रवेश
5.2 मुख्य विषय
5.2.1 ज्ञानात्मक तत्त्व ही धार्मिक चेतना का आधार है
5.2.2 ज्ञानात्मक पहलू के विरोध में दिये गये तर्क
5.3 सारांश
5.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
5.5 अभ्यास के प्रश्न
5.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
5.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
5.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
5.6 प्रस्तावित पाठ

5.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धार्मिक चेतना के अर्थ और इसके ज्ञानात्मक पहलू की व्याख्या करना है। साथ ही धार्मिक चेतना का एकमात्र तत्त्व ज्ञानात्मक पहलू ही है, इस मत की व्याख्या और परीक्षा करनी है।

5.1 विषय प्रवेश

जब आप सुन्दर प्राकृतिक दृश्य देखते हैं तो हठात् आप के मुख से निकल उठता है आह! कितना अभूतपूर्व दृश्य! यह उद्‌गार आपकी सौंदर्य-चेतना का परिचायक है। सौंदर्य चेतना की तरह मानव में नैतिक चेतना भी विद्यमान रहती है। जब कोई व्यक्ति बहुत बुरी तरह पिट रहा हो तो उस दृश्य का असर एक अबोध बालक पर भी पड़ता है और वह रो पड़ता है। इसका कारण है कि बालक इस घटना को बुरा और गलत समझता है। यही नैतिक चेतना है जो हर मनुष्य में मौजूद रहती है जिसके कारण उसे अच्छे काम देखकर प्रसन्नता होती है और बुरे कर्म देख कर दुःख होता है। सौंदर्य चेतना, नैतिक चेतना की तरह ही हर मानव में धार्मिक चेतना भी होती है। धार्मिक चेतना का तात्पर्य व्यक्ति की धार्मिकता से है। मानव में धार्मिक चेतना की उत्पत्ति के कारणों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। मनोवैज्ञनिकों ने धार्मिक चेतना की उत्पत्ति के मानसिक कारणों की विवेचना की है।

5.2 मुख्य विषय

धार्मिक चेतना से मानव के द्वारा की गई उन प्रक्रियाओं का बोध होता है जो उसे धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं। जब आप मन्दिर जाते हैं और वहाँ देवी-देवताओं की मूर्त्ति देखते हैं, तो अनायास, अनजाने आप श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते हैं। ऐसा आप इसलिए करते हैं कि आप में धार्मिक चेतना है। धार्मिक चेतना का अर्थ धार्मिकता को आभास का धुँधला ज्ञान का होना है। हर मानव में इस प्रकार के धर्म, धार्मिक कृतियों की चेतना रहती है। जब हम मानव मस्तिष्क को चेतन कहते हैं तो हमारा अर्थ मानव मन को सिर्फ चेतन कहना और मन में ज्ञान का होना नहीं रहता। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव के मानसिक जीवन के तीन पक्ष हैं– चिन्तन करना, भावनाओं को प्रकट करना और इच्छाशक्ति का कार्यों में परिणत करना। मानव मस्तिष्क स्वत: चेतन नहीं होता जैसा प्रोफ़ेसर ल्यूबा ने कहा है कि ''चेतन जीवन की इकाई न तो केवल विचार या चिंतन है, न केवल भावना और न केवल संकल्प, बल्कि इन तीनों का संयुक्त होकर किसी वस्तु की ओर गतिशील होना'' है। धार्मिक चेतना में तीनों तत्त्व हैं – (1) ज्ञानात्मक (2) रागात्मक एवं (3) क्रियात्मक तीनों पंहलू। ज्ञानात्मक पक्ष के कारण मानव किसी अतिइन्द्रीय शक्ति का ज्ञान प्राप्त करता है और रागात्मक तथ्य के कारण उस शक्ति के प्रति उसमे प्रशंसा के भाव होते हैं और ऐसी शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण के भाव उत्पन्न होते हैं। क्रियात्मक तत्त्व के कारण यह उपासना, प्रार्थना आदि क्रिया-कलाप करता है ताकि वह उस शक्ति की प्रसन्नता प्राप्त कर सके। सच्चाई यह है कि मानव के मानसिक जीवन के तीनों तत्त्व किसी न किसी रूप में धार्मिक चेतना में कम या वेशी की मात्रा में उपस्थित रहते हैं। उनकी संश्लेषणात्मक एकता को हम किसी भी प्रकार त्याग नहीं सकते। किन्तु कुछ चिन्तक ऐसे भी हैं जो इन तीनों में से किसी एक तत्त्व को ही महत्व देते हैं और उसे ही धार्मिक चेतना का मुख्य स्रोत मानते हैं। किन्तु इस प्रकार का चिंतन एकांगी और गलत है। कोई भी पूर्ण मानसिक अनुभूति ऐसी नहीं होती जिसमें केवल एक ही तत्त्व मौजूद रहे।

5.2.1 ज्ञानात्मक तत्त्व ही धार्मिक चेतना का आधार है

यहाँ पर हम ऐसे विचार की समीक्षा करेंगे जो केवल एक ही तत्त्व को धार्मिक चेतना का आधार मानते हैं। सबसे पहले हम ऐसी विचारधारा की समीक्षा करेंगे जो केवल ज्ञानात्मक अंग को ही धार्मिक चेतना का आधार मानते हैं।

बुद्धिवादी विचारकों के अनुसार ज्ञान ही धर्म का आधार है। उनके अनुसार धर्म का आधार मानव की भावना या संकल्प नहीं है बल्कि मानव की बुद्धि है। मानव विवेकशील पशु है और विवेक ही उसे पशुओं से पृथक करता है। इसलिये मानव के धर्म का मूल तत्त्व उसके विवेक के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं हो सकता। यदि धर्म का सार तत्त्व विवेक या बुद्धि नहीं होगा तो धर्म की सत्यता पर प्रश्न चिह्न लग जायगा, धर्म आत्मगत हो जायगा। यह एक तथ्य है कि बुद्धि ही धर्म को सत्यता एवं विषयगतता प्रदान करती है। बुद्धि के द्वारा ही धर्म में प्रचलित मिथक एवं धर्मकथाओं का औचित्य सिद्ध किया जाता है। मिथक एवं धर्मकथाएँ धर्म की धरोहर बन जाती हैं जो धार्मिक अनुयायिओं की धार्मिक भावना को दृढ़ बनाती हैं। बुद्धि ही धर्म की आन्तरिक विसंगतियों को दूर करती है। धर्म में जो विरोधाभास दिखते हैं, जो विरोधात्मक विचार दिखते हैं, उन्हें बुद्धि तर्क द्वारा दूर करती है। विज्ञान एवं दर्शन के सत्यों को धर्म में समावेश कर धर्म को समृद्ध और परिष्कृत करना भी बुद्धि का काम है। आदिम धर्म से लेकर एकेश्वरवादी धर्म तक जो विकास हुआ है उसका पूरा श्रेय मानव की बुद्धि एवं ज्ञान तत्व को जाता है। बुद्धि धर्म को रूढ़िवाद एवं एकांगी होने से बचाती है। आज जो हम विश्व धर्म की बात करते हैं और विश्वबन्धुत्व की बातें करते हैं, उसका श्रेय बुद्धि को ही जाता है। हिगेल, मार्क्स, मैक्समूलर और शंकर कुछ प्रमुख दार्शनिकों में हैं, जो बुद्धि या ज्ञान तत्त्व को ही धर्म की उत्पत्ति एवं विकास का कारण मानते हैं।

ज्ञानात्मक पहलू के समर्थन में तर्क

धर्म के ज्ञानात्मक पहलू के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :–

(i) धर्म की उत्पत्ति मनुष्य की इस भावना से होती है कि वह अपूर्ण एवं असक्षम है। यदि अपूर्णता और अपनी असमर्थता का ज्ञान मानव को न हो तो धर्म की उत्पत्ति नहीं होगी। मनुष्य को अपनी अपूर्णता का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसे पूर्णता का ज्ञान हो। प्राकृतिक शक्तियों के सामने जब मानव अपने को लाचार पाता है तब उसे अपनी अपूर्णता एवं अपनी मजबूरी का ज्ञान होता है। मानव को अपनी सीमाओं का ज्ञान होता है। जब तक उसे अपनी लाचारी और असमर्थता का ज्ञान नहीं हो, तबतक धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब मनुष्य को अपनी लाचारी एवं सीमाओं का ज्ञान हो जाता है, जब वह समझ जाता है कि अपनी सारी कोशिशों के बावजूद वह कुछ नहीं कर सकता, तब उसे ऐसी शक्ति में विश्वास होने लगता है, जो उससे कहीं अधिक सक्षम एवं शक्तिशाली है। और यहीं से उसमें धार्मिक चेतना उत्पन्न होती है।

(ii) प्लेटो के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का कारण मानव की उत्सुकता या जिज्ञासा है। प्राकृतिक आपदाएँ जैसे भूकम्प, बाढ़, तूफान आदि को देखकर मानव को उसके कारण जानने की जिज्ञासा होती है। उसकी जिज्ञासा भावना या संकल्प के द्वारा शान्त नहीं हो सकती। उसे अपनी बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जब उसकी बुद्धि भी घटना का कारण नहीं जान पाती तो वह उनके उत्पादक के रूप में अलौकिक शक्तियों तथा सत्ताओं की कल्पना करने लगता है और यहीं धर्म का, धार्मिक चेतना का प्रारम्भ होता है। अदृश्य शक्ति में विश्वास को विवेक के द्वारा दृढ़ किया जाता है। बुद्धि की भूमिका इस प्रकार धर्म में काम करती है– इसे झुठलाया नहीं जा सकता।

(iii) धर्म किसी महान शक्ति में विश्वास है जिसे हम अपनी इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकते। केवल युक्तियों द्वारा तर्कों के आधार पर इसे जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बुद्धि और ज्ञान द्वारा ही धर्म के विरुद्ध दी गई आपत्तियों का उत्तर देकर उनकी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। अत: बुद्धि और ज्ञान धर्म के लिये आवश्यक हैं।

(iv) यह विचारणीय है कि केवल मनुष्य ही क्यों धार्मिक होते हैं। ऐसा इसलिये कि मानव विवेकशील होता है। विवेक ही उसका ऐसा गुण है जो उसे पशुओं से पृथक् करता है। पशुओं को भी मानव की तरह भूख, प्यास लगती है और वे भी मानव की तरह सुखी और दु:खी होते हैं। किन्तु पशु धार्मिक नहीं होते, केवल मनुष्य ही धार्मिक होते (ऐसा इसलिए कि उनमें बुद्धि है, विवेक है) अर्थात् बुद्धि ही मानव को धार्मिक बनाती है। इस लिये बुद्धि या विवेक ही धर्म का कारण है।

(v) यदि बुद्धि को धर्म का आधार नहीं माना जाय तो धर्म आत्मगत और वैयक्तिक हो जायगा। भावनाएँ आत्मगत होती हैं किन्तु बुद्धि और ज्ञान ही विषयगत और व्यापक या सार्वभौमिक होती है। अत: धर्म बुद्धि पर ही आधारित हो सकता है।

(vi) बुद्धि भावना और संवेग से ऊँचा है। भावनाएँ परिवर्तनशील होती हैं। देश, काल तथा पात्र के अनुसार भावनाएँ बदलती रहती हैं। विवेक अपरिवर्तनशील एवं स्थायी होता है। अत: धर्म को विवेक जैसे निश्चित और स्थायी आधार पर भी आधारित मानना युक्तिसंगत होगा।

(vii) धर्म में सत्य की प्राप्ति प्रतीकों के सहारे प्राप्त की जाती है। धार्मिक चिंतन में प्रकृति एक प्राकृतिक घटना की प्रतीक बन जाती हैं। वे धार्मिक चिंतन के वाहक हो जाती हैं। बुद्धि और ज्ञान की भूमिका प्रतीकों के सहारे सत्य की प्राप्ति में होती है। अत: बुद्धि और ज्ञान ही धर्म का आधार हो सकता है।

(viii) मानव एक दूसरे से भावनाओं एवं संवेगों में भिन्न हो सकता है किन्तु बुद्धि एवं विवेक की धरातल पर वे बिल्कुल एक हैं। विश्वव्यापी धर्म या पूरी मानव जाति के लिए एक ही धर्म की बात जो हम करते हैं, वह बुद्धि या विवेक पर ही आधारित हो सकता है। गैलोवे भी धर्म को बुद्धि को ठोस धरातल पर आधारित करने के पक्षधर हैं।

बुद्धि को धर्म का आधार मानना एकांगी विचार न हो जाय, इस लिए हमें इस धारणा के विरूद्ध दी गई युक्तियों की भी परीक्षा करनी चाहिए।

5.2.2 ज्ञानात्मक पहलू के विरोध में दिये गये तर्क :

सिर्फ बुद्धि या ज्ञान पर ही धर्म और धार्मिक चेतना को आधारित मानना एक एकांगी एवं अपूर्ण विचार को पूर्ण मान लेना होगा। अतः इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं :–

(i) यदि धर्म के लिए केवल ज्ञान का होना अनिवार्य माना जाय तो अज्ञानी एवं अशिक्षित व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकते। किन्तु धर्म का इतिहास बतलाता है कि दुनिया में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं (जिनकी संख्या लाखों में की जा सकती है) जो नितान्त मूर्ख, अज्ञानी और अनपढ़ होते हुए भी धर्म में गहरी निष्ठा रखते हैं और धर्म का अनुपालन करते हैं। इसके विपरीत बहुत से पढ़े-लिखे, शिक्षित, विद्वान ऐसे हैं जो धर्म में कतई विश्वास नहीं करते। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि धर्म बुद्धि पर अनिवार्य रूप से आधारित नहीं है। धर्म का ज्ञान से कोई लेना-देना नहीं है।

(ii) धर्म का उद्देश्य उपासक एवं उपास्य के बीच एकता का वंधनमय संबंध स्थापित करना है। बुद्धि द्वारा दोनों के बीच की खाई पाटी नहीं जा सकती। बल्कि बुद्धि उपासक एवं उपास्य के भेद को और भी उजागर करती है, उनके बीच की खाई और बढ़ा ही देती है।

(iii) ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये जितने भी प्रमाण बुद्धि द्वारा दिये जाते हैं, वे सब के सब असफल सिद्ध होते हैं। वे ईश्वर की सत्ता को निःशंक रूप से प्रमाणित करने में बिल्कुल असमर्थ हैं। बुद्धि द्वारा दिये गये प्रमाण खोखले और निरर्थक हैं। ईश्वर को अकाट्य एवं असंदिग्ध रूप से बुद्धि द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सका है। अतः ईश्वर बुद्धि का विषय नहीं है, निष्ठा एवं आस्था का विषय है।

(iv) धर्म व्यवहार है। धर्म की महत्ता धार्मिक जीवन, धार्मिक क्रिया कलापों में है। ज्ञान और बुद्धि को सैद्धान्तिक बना देते हैं। बुद्धि धर्म को बिल्कुल शुष्क बना देती है। यह व्यवहारिक नहीं हो पाती।

(v) यदि धर्म वस्तुतः ज्ञान पर ही आधारित हो और धर्म का उद्देश्य ज्ञान ही हो, तो धर्म को विज्ञान और दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि धर्म का संबंध केवल ज्ञान से ही हो, भावना एवं संवेग से इसका कोई संबंध न हो, तो धर्म दर्शन बन जायगा, धर्म नहीं रहेगा।

(vi) आदिम धर्मों में हमें ज्ञान या बुद्धि की कोई भूमिका नहीं दिखती, फिर भी आदिम धर्म को धर्म माना जाता है और आदिम जनजातियों को धार्मिक भी माना जाता है। वे अपने ही ढंग से धार्मिक थे।

5.3 सारांश

मानव को स्वभाव से ही धार्मिक चेतना रहती है। धर्म के प्रति मानव की चेतना भले ही सुस्पष्ट और व्यवस्थित नहीं हो, फिर भी उसे धर्म का आभासिक ज्ञान रहता है। विद्वानों ने धार्मिक चेतना के तीनों पक्षों का उल्लेख किया है। ये पक्ष हैं, ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं क्रियात्मक। किन्तु बुद्धिवादी चिन्तक केवल ज्ञानात्मक पहलू को ही धार्मिक चेतना या धर्म का एकमात्र आधार मानते हैं। अपनी धारणा को प्रमाणित करने के लिए वे कई युक्तियाँ देते हैं। किन्तु उनकी धारणा के विपक्ष में भी कई तर्क दिये जाते हैं। दोनों प्रकार के तर्कों की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धिवादियों का मत एकांगी है। धर्म का आधार केवल बुद्धि ही नहीं, बल्कि भावना एवं संकल्प या क्रिया भी है।

5.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

बुद्धिवादी = जो बुद्धि या तर्क को सर्वोपरि समझता है।

रागात्मक = भावना एवं संवेग संबंधी

5.5 अभ्यास के प्रश्न

5.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) धार्मिक चेतना का अर्थ है

(क) धर्म का धुँधला ज्ञान

(ख) धर्म का पूरा ज्ञान

(ग) अचेतन मन में धर्म ज्ञान की उपस्थिति

(घ) उपरोक्त में कोई भी नहीं

उत्तर – (क)

5.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'ज्ञानात्मक तत्व या बुद्धितत्व धर्म या धार्मिक चेतना का एकमात्र आधार है' प्रमाणित करें।

उत्तर – 5.2.2

2. 'ज्ञानात्मक तत्त्व धर्म का आधार नहीं हो सकता' प्रमाण दें।

उत्तर – 5.2.3

5.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. क्या ज्ञानात्मक या बुद्धितत्व धर्म का एकमात्र आधार बन सकता है?

उत्तर – 5.2.1, 5.2.2, 5.2.3

5.6 प्रस्तावित पाठ

1.	डी० एम० एडवर्ड	:	**द फिलासफी ऑफ रिलिजन**
2.	जॉन केयर्ड	:	**इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
3.	वाई० मसीह	:	**इन्ट्रोडक्शन टू रिलिजनस फिलॉसफी**

◆◆◆

इकाई 6

क्रियात्मक पहलू

पाठ-संरचना

6.0 उद्देश्य
6.1 विषय प्रवेश
6.2 मुख्य विषय
6.2.1 क्रियात्मक पहलू के पक्ष में युक्तियाँ
6.2.2 क्रियात्मक पहलू के विरुद्ध युक्तियाँ
6.3 सारांश
6.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
6.5 अभ्यास के प्रश्न
6.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
6.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
6.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
6.6 प्रस्तावित पाठ

6.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य उन चिन्तकों की विचारधारा को प्रस्तुत करना है जो धर्म को केवल संकल्प (will) या क्रियात्मक पहलू पर आधारित मानते हैं और इस विचार-धारा के दोष एवं गुणों को बताना है।

6.1 विषय प्रवेश

प्राय: सभी धर्मों में कुछ धार्मिक क्रियाओं की बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। धार्मिक जीवन बिताने का अर्थ है उपासना, व्रत, तीर्थयात्रा करना इत्यादि। कुछ ऐसे विद्वान हैं जो धर्म के इस क्रियात्मक पक्ष को ही धार्मिक चेतना का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं।

6.2 मुख्य विषय

धार्मिक प्रक्रियाएँ जिसे धर्म का क्रियात्मक पहलू कहा जाता है, धार्मिक जीवन में स्थिरता लाती हैं। भावनााएँ क्षणिक और अस्थाई होती हैं। भावनाएँ कभी प्रबल हो जाती हैं, कभी कमजोर भावनाओं का स्वरूप ही ऐसा है जो धर्म को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकता। किन्तु धार्मिक व्यवहारों के द्वारा एक स्थायी धार्मिक

प्रवृत्ति का उदय होता है। भावनाएँ मानव में स्थायी धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकतीं। धर्म की विकासवादी प्रक्रिया के प्रथम चरण में हम पाते हैं कि धर्म मानव की वाह्य क्रियाओं में निहित होता है, न कि भावना में। इसी कारण बलि प्रथा के साथ पूजा का महत्व है ताकि धर्म को स्थायित्व मिल सके। अपने विश्वासों को क्रियात्मक पहलू द्वारा अपनी धार्मिकता को जीवन का वास्तविक अंग बनाते हैं। कांट, फिक्टे, ह्वाइटहेड आदि कुछ ऐसे प्रमुख विचारक हैं जो मानसिक जीवन के क्रियात्मक पहलू पर जोर देते हुए इसे धर्म का वास्तविक सार बताते हैं।

6.2.1 क्रियात्मक पहलू के पक्ष में युक्तियाँ

कुछ विद्वानों ने क्रियात्मक पहलू को ही धर्म का आधार माना है। मानव अपने मन के भावों को अपनी क्रियाओं द्वारा व्यक्त करता है। यही कारण है कि उपासना के अनगिनत प्रकार की विधियों और विभिन्न प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय हमें मिलते हैं। वैदिक धर्म और यहूदी धर्म स्पष्ट रूप से बताते हैं कि धर्म हमारे चेतन जीवन के क्रियात्मक पहलू से जुड़ा हुआ है, न कि ज्ञान या भावना या संवेग से। यूरोपीय दर्शन में भी काँट ने संकल्प या क्रिया के महत्त्व की स्थापना की। उनके अनुसार शुभ संकल्प हीरे की भाँति सभी नैतिक क्रियाओं में चमकता है और सर्वश्रेष्ठ क्रिया है। फिक्टे ने भी संकल्प को परमसत्ता के रूप में स्थापित किया। धर्म का आधार संकल्प ही हो सकता है। रुडॉल्फ यूकेन ने जीवन की क्रिया को अनन्य बताया। जो है और जो होना चाहिये के बीच एक बड़ी खाई है, वास्तविकता एवं आदर्श में बहुत फर्क होता है। इस अन्तर को कर्मों के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। उपरोक्त विचारधारा को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं :–

(i) हम किसी भी आदमी को धार्मिक तभी कहते हैं जब वह धार्मिक कर्म करता है। भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति या धर्म के बारे में बहुत कुछ जानने वाले व्यक्ति को धार्मिक नहीं कहते, उन्हें धार्मिक कहना गलत होगा। विश्व में प्रचलित सभी धर्मों में धार्मिक व्यवहार और क्रियाओं पर बल दिया जाता है। आदिम धर्मों में ज्ञान का अभाव था, प्राकृतिक धर्म भी ज्ञान शून्य थे, किन्तु फिर भी धार्मिकता उनकी जीवन शैली में कूट-कूट कर भरी थी। अतः क्रियात्मक पहलू ही धर्म का मुख्य पहलू है।

(ii) धर्म के विकास के अध्ययन से यह व्यक्त होता है कि धर्म मानव का सर्वोच्च सत्ता या ईश्वर के प्रति व्यवहार है। आदिम युग में मनुष्य को किसी शुभ की प्राप्ति के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ता था। आधुनिक युग में भी अपने अभावों को दूर करने के लिये मानव को काफी संघर्ष करना पड़ता है। मानव तभी धार्मिक होता है, जब वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए संघर्ष करता है। संघर्ष करना, क्रिया करना है। इसलिए धर्म का आधार संकल्प या क्रियात्मक पहलू ही है।

(iii) कोई भी धर्म प्रगति तभी कर सकता है जब वह प्राणवान हो, जब वह क्रियाशील हो। दृढ़ संकल्प के द्वारा ही धर्म की प्रगति, विकास हो सकता है। सभी महान पुरुषों का उपदेश हमें कर्म करने के लिए, अपने को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देते हैं। धर्म में स्थायित्व एवं विकास क्रिया से ही हो सकता है। दृढ़ संकल्प ही इसकी कुञ्जी है।

(iv) सच्चा धार्मिक वही है जिसके कर्म तथा व्यवहार दोनों ही धार्मिक हों। धार्मिक भावना या विवेक से कोई धार्मिक नहीं हो जाता।

(v) यदि मानव की धार्मिक चेतना में संकल्प या इच्छा के महत्त्व की अनदेखी की जाय, तो प्रार्थना का महत्त्व भी घट जायगा। किन्तु सभी धर्मों में प्रार्थना के महत्त्व पर बल दिया गया है। अतः संकल्प या क्रियात्मक पहलू की धर्म में भूमिका को न्यून नहीं किया जा सकता।

6.2.2 क्रियात्मक पहलू के विरुद्ध युक्तियाँ

(i) संकल्प या क्रियात्मक पहलू को धर्म का एक मात्र आधार मान लेना भारी भूल होगी। ज्ञान के अभाव में कोई भी धार्मिक क्रिया मशीन की तरह यान्त्रिक या निरुद्देश्य समझी जायगी। वैदिक युग में कर्मों का महत्त्व अवश्य था, वैदिक कर्मकांड प्रमुख भी हो गया किन्तु दर्शन के विकास होने पर वैदिक यज्ञादि क्रियाएँ शुष्क और यांत्रिक मानी जाने लगीं। इन्हें अनावश्यक भी माने जाने लगा। यदि धर्म केवल क्रियात्मक पहलू पर आधारित हो, तो उन क्रियाओं का मूल्यांकन करना संभव नहीं होगा और इन्हें धार्मिक क्रिया की संज्ञा देने में भी कठिनाई होगी।

(ii) मानव मशीन की तरह काम नहीं करता है। उसकी हर क्रिया उसकी बुद्धि और भावना से निर्देशित होती है। इसलिए धर्म को केवल संकल्प या क्रियात्मक पहलू पर आधारित नहीं किया जा सकता।

(iii) धर्म को ज्ञान एवं भावना से वंचित कर शुद्ध क्रिया पर आधारित करना उसे शुष्क कर्मकांड को धरातल पर गिरा देना होगा। ज्ञान के मार्गदर्शन बिना कोई भी धर्म या उपासना पद्धति धर्म का उपहास करना होगा। धार्मिक क्रियाकलाप विवेक के निर्देशन के अभाव में उपाहासास्पद लगेंगे।

(iv) मानव विवेकशील प्राणी है। मानव के पास मस्तिष्क और हृदय दोनों ही है। उसकी तुलना मशीन से नहीं की जा सकती। जब भी मनुष्य कोई काम करता है तो पहले वह उस काम के बारे में सोचता है। वह उस काम के परिणाम एवं विधि के बारे में सोचता है। वह उस काम से क्या लाभ होगा और उसकी अपनी शक्ति एवं सीमा क्या है उस पर भी वह विचार करता है। यदि मानव को धर्म केवल संकल्प या इच्छा पर आधारित हो, धर्म में मानव का समस्त व्यक्तित्व क्रियाशील रहता है। अतः केवल क्रियात्मक पहलू या संकल्प को धर्म का आधार मानना गलत होगा।

6.3 सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव के सम्पूर्ण मानसिक जीवन अर्थात् ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं क्रियात्मक तीनों पहलुओं पर धार्मिक चेतना आधारित होती है। इनमें से किसी एक को धर्म का आधार मानना, एक एकांगी विचार को पूर्ण मान लेने जैसा है। यह सत्य है कि धर्म में कभी ज्ञानात्मक पहलू, कभी भावनात्मक पहलू, कभी क्रियात्मक पहलू की प्रमुखता रहती है। विवेक की प्रधानता होने पर धर्म को बौद्धिक, भावना एवं संवेग की प्रमुखता रहने पर धर्म को संवेगात्मक या रहस्यात्मक तथा क्रिया की प्रधानता होने पर धर्म को व्यावहारिक मान लेते हैं। सच्चाई यह है कि धर्म के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता एवं संतोष प्राप्त करना चाहता है, लेकिन इनकी प्राप्ति धार्मिक चेतना के किसी एक पक्ष पर बल देने से नहीं हो सकती। वे धार्मिक भाव जिसे ज्ञान स्वीकार नहीं करता, वे कर्म जो बिल्कुल यांत्रिक हैं, वे विचार जो भावना एवं कर्मशून्य हैं, त्याज्य हैं। धर्म में मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति सक्रिय रहती है। ''चेतन जीवन की इकाई न तो विचार है, न भाव और न संकल्प, बल्कि सभी तीनों की किसी विषय की ओर गति है।''

6.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

रागात्मक = भावनात्मक, संज्ञानात्मक = बुद्धिजन्य

6.5 अभ्यास के प्रश्न

6.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) धार्मिक क्रियाएँ

(क) दिखावा के लिए हैं

(ख) निरर्थक क्रिया है

(ग) त्याज्य हैं

(घ) धर्म को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

उत्तर – (घ)

(ii) हम किसी व्यक्ति को धार्मिक तब कहते हैं जब

(क) उसमें धार्मिक भावनाएँ हों

(ख) जब उसे धर्म का पूरा ज्ञान हो

(ग) जब वह धार्मिक कार्य करता हो

(घ) जब उसमें इनमें कुछ भी न हो।

उत्तर – (ग)

6.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'क्रियात्मक पहलू ही धार्मिक चेतना का सृजन करता है' युक्तियों द्वारा प्रमाणित करें।

उत्तर – 6.2.1

2. 'केवल क्रियात्मक पहलू धर्म का आधार नहीं बन सकता' सिद्ध करें।

उत्तर – 6.2.2

6.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. क्या क्रियात्मक पहलू एक मात्र धर्म का आधार हो सकता है ?

उत्तर – 6.2.1, 6.2.2, 6.2.3

6.6 प्रस्तावित पाठ

1. जे० एच० ल्युबा : **द साइकोलोजिकल ऑरिजिन एण्ड द नेचर ऑफ रिलिजन**

2. जी० गैलोवे : **द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 7

भावनात्मक पहलू

पाठ-संरचना

7.0 उद्देश्य
7.1 विषय प्रवेश
7.2 मुख्य विषय
7.2.1 धार्मिक चेतना में भावनात्मक पहलू के पक्ष में युक्तियाँ
7.2.2 भावान्तमक पहलू के विरोधी तर्क
7.3 सारांश
7.4 धार्मिक चेतना का ओटो द्वारा विश्लेषण
7.5 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
7.6 अभ्यास के प्रश्न
7.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
7.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
7.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
7.7 प्रस्तावित पाठ

7.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धार्मिक चेतना के परिघटक के रूप में भावनात्मक पहलू के पक्ष एवं विपक्ष में दी गयी युक्तियों की व्याख्या एवं परीक्षा करना है।

7.1 विषय प्रवेश

कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म की उत्पत्ति मानसिक जीवन के सिर्फ भावनात्मक पहलू से होती है। भावनात्मक पहलू से मानव की भावनाओं, संवेगों का बोध होता है जो हर पुरुष एवं स्त्री के हृदय में पर्याप्त मात्रा में रहती है। शिलियर मेकर, ह्यूम, टाइलर तथा मैकटेगर्ट आदि इस मत का समर्थन करते हैं।

7.2 मुख्य विषय

शिलियर मेकर ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि पूर्ण निर्भरता का भाव ही धर्म है। शिलियर मेकर के अनुसार धर्म का सार ईश्वर पर पूर्णरूपेण आश्रित होना है। इस मत के समर्थक मानते हैं कि भावना

ही वह शक्ति है जो मनुष्य को धार्मिक बना देती है। मैकटेगर्ट ने भी धर्म में भावना की भूमिका और महत्व को स्वीकार किया है और उनका कहना है कि धार्मिक भावना भय मिश्रित श्रद्धा में व्यक्त होती है। महात्मा गाँधी ने भी कहा है कि ''धर्म मस्तिष्क की पकड़ नहीं है बल्कि हृदय की पकड़ है।'' इस प्रकार की धारणा के समर्थकों के अनुसार भावना, विशेष कर भय ही वह शक्ति है जो मानव को धार्मिक बना देती है। जैसा गैलावे ने कहा है ''भय मानव को स्पष्ट रूप से धार्मिक कृतियों को करने के लिये सहज ही बाध्य करता है और भयवश मानव सहज ही ईश्वर से सहायता का प्रार्थी बन जाता है। ह्यूम ने भी धर्म की उत्पत्ति के लिये भय को प्रेरक माना है। आज भी दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आदिवासी अफ्रीका तथा भारत में भी आदिवासी जनजातियों को दुष्ट, अदृश्य शक्तियों के भय से धार्मिक कृत्यों को करते हुए देखा जा सकता है। धार्मिक चेतना वह अवस्था है जिसमें मानव का ईश्वरीय सत्ता के साथ सीधा आयुज्य संबंध रहता है। जिस प्रकार हमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष में वस्तुओं का सीधा ज्ञान होता है, उसी प्रकार धर्म में भी मनुष्य को अतीन्द्रीय शक्ति या ईश्वर की सीधी चेतना रहती है। इस प्रकार की धारणा के पक्ष एवं विपक्ष में कई युक्तियाँ दी जाती हैं। इन युक्तियों का सर्वेक्षण करके ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं ।

7.2.1 धार्मिक चेतना में भावनात्मक पहलू के पक्ष में युक्तियाँ

(i) सामान्य धारणा यह है कि धर्म भावना और निष्ठा पर आधारित है, तर्क पर नहीं। धर्म में तर्क की कोई भूमिका नहीं रहती। दुनियाँ में लाखों व्यक्ति धर्म का अनुपालन केवल निष्ठा या विश्वास के कारण करते हैं। वास्तव में वे अपनी निष्ठा या विश्वास को किसी तर्क द्वारा युक्तिसंगत सिद्ध नहीं कर सकते।

(ii) मनुष्य इसलिये धार्मिक बन जाता है क्योंकि, धर्म के संबंध में उसकी कुछ भावनाएँ रहती हैं। जिस तरह मनुष्य अन्न, वस्त्र, जल की आवश्यकता महसूस करता है, उसी तरह उसे धर्म की भी जरूरत महसूस होती है। धर्म की आवश्यकता के प्रति व्यापक विश्वास के कारण ही मनुष्य धार्मिक है।

(iii) धर्म तर्क का विषय नहीं है। ईश्वर के लिये प्रेम और ईश्वर के लिये अपनी भावनाओं को व्यक्त करना ही धर्म है। धर्म के संबंध में इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि अनगिनत अनपढ़ और अशिक्षित व्यक्ति धर्म में गहरी निष्ठा रखते हैं। वे धर्म के प्रति अपनी भावनाओं एवं संवेदन के कारण धार्मिक कहलाते हैं। दूसरी ओर कई शिक्षित एवं पढ़े-लिखे व्यक्ति धर्म में कोई विश्वास नहीं रखते और धर्म का खंडन करते हैं। ज्ञान से उच्च भावना का स्थान दिखता है। धर्म प्रेम और श्रद्धा पर आधारित रहता है इसलिये धार्मिक चेतना का मुख्य तत्त्व भावना ही है।

(iv) धर्म का उद्देश्य उपासक एवं उपास्य के बीच तादात्म्य स्थापित करना है। भक्त में यह भावना रहती है कि हम ईश्वर के निकट हैं तथा वह किसी भी गाढ़े समय में हमारी मदद कर सकता है। बुद्धि उपासक तथा उपास्य के अन्तर को स्पष्ट तथा तीव्र बनाती है। अत: भावना से ही धार्मिक इच्छा की तुष्टि होती है।

(v) कई धर्मों में मूर्तिपूजा का प्रचलन है। मूर्त्ति को मानव ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है। बुद्धि कभी भी पत्थर को भगवान नहीं मान सकती। भावना तथा विश्वास के कारण ही मनुष्य पत्थर को ईश्वर मानकर पूजा करता है और मानसिक शान्ति प्राप्त करता है।

(vi) भावना ही धर्म को प्राणवान या जीवन्त बनाती है। भावना के बिना धर्म बिल्कुल यांत्रिक हो जायगा। धार्मिक क्रियायें मूल्यवान इसीलिए मानी जाती हैं कि भावना उनके साथ संयुक्त रहती है। जॉन केयर्ड ने स्वीकार किया है कि ''हमलोग धार्मिक इसलिए नहीं हैं कि हम सही चिन्तन करते हैं और न इसलिए धार्मिक हैं कि हम सही ढंग से धार्मिक कृत्य करते हैं, बल्कि हम धार्मिक इसलिए हैं कि हममें ईश्वर के प्रति श्रद्धा, प्रेम की भावना है।

7.2.2 भावनात्मक पहलू विरोधी तर्क

यह सत्य है कि धर्म का मुख्य तत्त्व भावना है किन्तु यदि हम केवल भावना को ही धर्म का एकमात्र आधार मान लें तो यह एकांगी विचार होगा। भावनात्मक पहलू को धर्म का आधार मानने के विरोध में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :-

(i) यदि केवल भावनात्मक पहलू को ही धर्म का आधार मानें तो धर्म कमजोर हो जायगा। धर्म के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों का उत्तर देने में समर्थ नहीं होगा क्योंकि भावना द्वारा धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती, विरोधी की आपत्तियों का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

(ii) केवल भावना पर आधारित धर्म विवेक शून्य और एकांगी होगा। भावनाएँ अन्धविश्वास को जन्म देती हैं और धर्म में कट्टरता उत्पन्न करती हैं। प्रोफेसर केयर्ड के शब्दों में ''धर्म का सार भावना पर आधारित करना आत्मघाती होगा, क्योंकि मात्र भावना पर आधारित धर्म के रूप में ग्रहण करने में असमर्थ रहेगा।''

(iii) भावनाएँ स्वाभाविक रूप से आत्मगत होती हैं। भावनाएँ सदा बदलती रहती हैं। मेरी भावनाएँ आपकी भावनाओं से भिन्न होंगी, इसलिए यदि धर्म का आधार भावना हो तो धर्म में स्थायित्व नहीं रह सकेगा। धर्म को विषयगत और स्थायी होना चाहिए।

(iv) वस्तुतः भावना के लिये भी ज्ञान आवश्यक है। हमलोग पहले किसी वस्तु को जानते हैं, फिर उसके प्रति भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः भावना का आधार ज्ञान है और यह धर्म का भी आधार है। यह सोचना गलत है कि भावना ज्ञान से स्वतंत्र धर्म का आधार हो सकती है।

(v) शिलियर मेकर के अनुसार धार्मिक चेतना या धर्म की जननी व्यक्ति की निर्भरता को मानना है। किन्तु निर्भरता एक ही प्रकार की नहीं होती। निर्भरता कई तरह की हो सकती है जैसे पुत्र का पिता पर, नौकर का मालिक पर, व्यक्ति का समाज पर आदि। अब यदि निर्भरता की भावना ही धर्म का सार तत्त्व हो तो यह स्पष्ट नहीं है कि किस तरह की निर्भरता धर्म का आधार है।

(vi) धर्म को भय की भावना पर आधारित करना जैसा कि ह्यूम और मैकटेगार्ट करते हैं, बुद्धिजन्य नहीं हो सकता। भय धर्म की उत्पत्ति का कारण हो सकता है। किन्तु इसे ही एकमात्र धर्म की उत्पत्ति का कारण मानना उचित नहीं लगता।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल भावना को धर्म की उत्पत्ति का पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता।

अतः गैलोवे का कहना उचित दिखता है कि ''कितना भी आवश्यक और केन्द्रीय धर्म में भावना क्यों न हो, धार्मिक अर्थ के लिये इसका अन्य तत्त्वों के साथ संबंध पर निर्भर करता है। अतः अकेली भावना धर्म की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती है।

7.3 सारांश

भावनात्मक पहलू ही धर्म का सार तत्त्व है, यह बताते हुए कई विचारकों ने कई तर्क दिये हैं और इसी तरह इस मत के विरुद्ध भी कई तर्क दिये गये हैं कि केवल भावना धर्म का मूल तत्त्व नहीं हो सकती। ये सभी तर्क एकांगी हैं और कई दोषों से ग्रसित हैं। सच्चाई यह है कि भावनात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक संयुक्त रूप से धार्मिक चेतना या धर्म के आधार हैं। भावना स्वतः अपने को धार्मिक होना भी नहीं कह सकती। ज्ञान की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि भावना की महत्वपूर्ण भूमिका धर्म में होती है, फिर भी उसकी अभिव्यक्ति मानव धार्मिक क्रियाओं में करता है। ज्ञान के बिना धार्मिक कृतियाँ और धार्मिक भावनाएँ अन्धी हैं।

7.4 धार्मिक चेतना का ओटो द्वारा विश्लेषण

आटो ने धार्मिक चेतना का एक अपना विश्लेषण किया है जो अनूठा और अपने ढंग का है। ओटो के विश्लेषण में धार्मिक चेतना में ज्ञान को कोई स्थान नहीं है। शिलर मेकर ने धार्मिक चेतना को ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता का भाव माना है। हॉफडिंग ने मूल्यों के संरक्षण को धार्मिक चेतना माना है। किन्तु ओटो की धारणा धार्मिक चेतना के संबंध में बिल्कुल भिन्न है। ओटो के लिये धार्मिक चेतना 'न्युमिनस' की अनुभूति है जो बुद्धि एवं ज्ञान से बिल्कुल परे है। अपनी पुस्तक Idea of the Holy में धार्मिक चेतना की विवेचना करते हुए ओटो ने कहा है कि यह एक ऐसी अनुभूति है जो रहस्यमय एवं एकदम पूर्ण है। मनुष्य एक सीमित प्राणी है और 'न्यूमिनस' एक पूर्ण सत्ता है, इसलिये मानव के लिये इस पूर्ण सत्ता का ज्ञान पाना असंभव है। यह रहस्यमय सत्ता इस दृश्य जगत के परे है। 'न्युमिनस' शब्द का अतिपवित्र Holy शब्द के स्थान पर प्रयोग बतलाता है कि न्युमिनस श्रद्धा एवं सम्मान का विषय है। न्यूमिनस अनन्त असाधारण और अवर्णननीय सत्ता है। इस तरह की सत्ता की व्याख्या मानव कभी नहीं कर सकता। न्युमिनस की अनुभूति स्वजातिक (suigeneris) है। इसकी अनुभूति मानव कर सकता है पर इसकी व्याख्या नहीं कर सकता। धार्मिक चेतना एक ऐसी अनुभूति है जिसमें मानव अपने को बहुत बौना पाता है। बुद्धि न्युमिनस को समझने में असमर्थ है। यही कारण है कि ओटो के लिए धार्मिक चेतना का आधार विवेक शून्य, ज्ञानहीन कुछ है। धार्मिक चेतना 'मिस्टिरियम ट्रिमेन्डम' की अनुभूति है जो सभी बौद्धिक प्रयासों से परे है।

7.5 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

न्युमिनस = चमत्कारी, अद्‌भुत

मिस्टिरियम = रहस्यमय

ट्रिमेन्डम = अतिशय

7.6 अभ्यास के प्रश्न

7.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) धर्म का आधार

(क) केवल श्रद्धा है

(ख) केवल भय है

(ग) श्रद्धा और भय दोनों है

(घ) इनमें कोई भी नहीं।

उत्तर – (ग)

7.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'धर्म का आधार भावना है' इस मत के पक्ष में युक्तियाँ दें।

उत्तर – 7.2.1

2. भावनात्मक पहलू धर्म का आधार नहीं हो सकता। तर्क दें।

उत्तर – 7.2.2

7.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

धर्म का आधार केवल भावना हो सकती है या नहीं ? विवेचना करें ।

उत्तर – 7.2.1, 7.2.2

7.7 प्रस्तावित पाठ

1.	डेविड ह्यूम	:	**डायलोग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलिजन**
2.	फिलन्ट	:	**थीज्म**
3.	जी० गैलोवे	:	**फिलासफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 8

धार्मिक विश्वास का आधार

पाठ-संरचना

8.0 उद्देश्य
8.1 विषय प्रवेश
8.2 मुख्य विषय
 8.2.1 धार्मिक विश्वास की विशेषता
 8.2.2 तर्क बुद्धि : धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में
 8.2.3 आस्था : धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में
8.3 सारांश
8.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
8.5 अभ्यास के प्रश्न
 8.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
 8.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
 8.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
8.6 प्रस्तावित पाठ

8.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धार्मिक विश्वास के अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या करना और इस प्रकार के विश्वास का आधार निश्चित करना है।

8.1 विषय प्रवेश

धार्मिक विश्वास से मानव का ईश्वर के अस्तित्व में, आत्मा, आत्मा की अमरता, पूर्वजन्म, भविष्य जीवन, स्वर्ग नर्क आदि में विश्वास समझा जाता है। धार्मिक विश्वास मानव की भावनाओं, आचरण, धार्मिक व्यवहार आदि को निर्धारित करता है। मानव की धार्मिक अनुभूतियों की जड़ में मानव का धार्मिक विश्वास ही रहता है। इसलिए यहाँ धार्मिक विश्वास का स्वरूप एवं आधार ढूँढ़ना आवश्यक है।

8.2 मुख्य विषय

धार्मिक विश्वास अत्यन्त ही दृढ़ एवं स्थायी होते हैं। उनमें कोई भी परिवर्तन लाना कठिन होता है। धार्मिक विश्वास की परिभाषा देते हुए डब्ल्यू० टी० ब्लैक स्टोन कहते हैं, ''धार्मिक विश्वास निष्ठा के विषय के प्रति मानव की पूर्ण प्रतिबद्धता का द्योतक होता है।'' मानव अपनी निष्ठा के लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग करने में नहीं हिचकिचाता।

मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही इस प्रकार के विश्वास निष्ठा से अनुप्राणित होता है। केवल धार्मिक व्यक्ति को ही इस प्रकार का विश्वास रहता है, जिन्हें धर्म में कोई विश्वास नहीं रहता, उन्हें धार्मिक विश्वास से कुछ लेना देना नहीं रहता। धार्मिक विश्वास के संबंध में बहुचर्चित प्रश्न इसके आधार के संबंध में उठाया जाता है। धार्मिक विश्वास के चार आधार माने जाते हैं। ये आधार हैं : (क) तर्क बुद्धि (ख) आस्था (ग) दैव प्रकाशना और (4) रहस्यात्मक अनुभूति।

8.2.1 धार्मिक विश्वास की विशेषता

धार्मिक व्यक्ति साधारणत: ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के कारण वह ईश्वर में विश्वास करता है। उसे ईश्वर में इसलिए विश्वास रहता है क्योंकि उसका विश्वास है कि ईश्वर में आस्था रखने वाला ही जीवन में प्रगति कर सकता है। ऐसे धर्मनिष्ठ व्यक्ति की धारणा रहती है कि उसकी नियति का नियामक ईश्वर ही है। किन्तु इससे यह समझना कि केवल ईश्वरवादी ही धार्मिक होते हैं, गलत होगा।

धार्मिक विश्वास की धारणा का स्पष्टीकरण कुछ उदाहरणों द्वारा किया जा सकता है। इसाइयों का यह विश्वास कि ईसा मृत्यु के बाद पुनर्जीवित हो उठे, मुसलमानों का देवदूतों में विश्वास, हिन्दुओं का पुनर्जन्म में विश्वास धार्मिक विश्वास है। धार्मिक विश्वास अपने जैसा एक ही है, इस विश्वास से मानव का व्यक्तित्व सुसम्पन्न और सम्मानजनक हो जाता है,

(i) धार्मिक विश्वास साधारण विश्वास से भिन्न होता है। यह वैज्ञानिक विश्वास से भी भिन्न होता है। धार्मिक विश्वास अपने में अनूठा होता है।

(ii) ईश्वर और आत्मा धार्मिक विश्वास के विषय हैं। वे सत्ताएँ हैं, कोई रहस्यमय सत्ता नहीं।

(iii) धार्मिक विश्वास तर्कबुद्धि पर अपरोक्ष रूप से आधारित नहीं होता। परोक्ष रूप से आधारित होता है। मानव के संवेग और संकल्प में वे अभिव्यक्त होते हैं।

(iv) मानव को धार्मिक विश्वास एक नया आयाम देता है।

(v) धार्मिक विश्वास अतार्किक नहीं होता। यह बुद्धि विरोधी भी नहीं होता।

8.2.2 तर्क बुद्धि : धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में

मानव को धार्मिक पशु कहा जाता है। मनुष्य और पशु में एक आधारभूत अन्तर यह है कि मनुष्य धर्मपरायण होता है किन्तु पशु धार्मिक नहीं होता है। अत: यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होता कि विवेक के कारण ही मनुष्य धार्मिक होता है।

मनुष्य तर्क बुद्धि से सम्पन्न है, इसी कारण वह किसी विषय पर स्पष्ट तथा निश्चित प्रमाणों के आधार पर ही कोई निर्णय लेता है। तर्क बुद्धि द्वारा प्रेरित होकर काम करने वाला व्यक्ति किसी भी प्राक्कल्पना या सिद्धांत को तभी पूर्णत: सत्य या असत्य मानता है जब उनके पक्ष या विपक्ष में स्पष्ट एवं निश्चित वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी पूर्वाग्रह या पक्षपात से ग्रसित नहीं होता है।

फिर, हर धर्म के कुछ पवित्र धर्मग्रन्थ होते हैं जिससे वह प्रेरणा और बल ग्रहण करता है। तर्कबुद्धि के द्वारा ही इन धर्मग्रन्थों के विचार और बोध की व्याख्या की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों के धर्मग्रन्थों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से संभव है। वास्तविकता यह है कि विद्वानों ने इनकी व्याख्या अलग-अलग ढंग से की है। उदाहरणार्थ शंकर और रामानुज ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या उपनिषद के विभिन्न वाक्यों का विभिन्न अर्थ बताकर किया और शंकर ने अद्वैतवाद एवं रामानुज ने विशिष्टाद्वैत के रूप में किया है। व्याख्या एवं अर्थ निरूपण करना तर्कबुद्धि का ही काम और विसंगतियों का समाधान भी तर्कबुद्धि से ही संभव है।

इसके अलावे धार्मिक अनुभूति स्वरूपतः व्यक्तिगत एवं क्षणिक होता है। व्यक्ति अपनी धार्मिक अनुभूति को दूसरों के समक्ष प्रकट करना चाहता है। किन्तु इसके लिए समुचित प्रत्ययों की आवश्यकता होती है जो तर्कबुद्धि के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार तर्क-बुद्धि, धार्मिक अनुभूति की भावाभिव्यक्ति में सहयोग प्रदान करती है।

धार्मिक प्रत्ययों का स्पष्ट एवं सुनिश्चित मंतव्यों को बता कर तर्कबुद्धि धार्मिक कलहों को दूर करने में काफी दूरी तक सहायता करती है एवं आपसी सौहार्द स्थापित करने में योगदान देती है।

वास्तव में विभिन्न धर्म एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं और न वे एक दूसरे से संघर्ष के पक्षपाती हैं। बल्कि उनको बीच एकता एवं समानता के आवश्यक तत्त्व भी विद्यमान हैं।

वस्तुतः धर्मविचारक विभिन्न गोष्ठियों के माध्यम से धर्मों के बीच एकता एवं समन्वय की स्थापना का भी प्रयास करते हैं। तर्कबुद्धि इस दिशा में सहायक है।

तर्कबुद्धि का एक उपयोग यह भी है कि कोई भी आदमी अपने धर्म को, उसके सभी पक्षों को तर्कबुद्धि द्वारा समझ सकता है।

अधिकतर धर्मनिष्ठ व्यक्ति अपने धर्म से संवेगात्मक रूप से जुड़ा रहता है। प्रायः लोग अपने माता-पिता के द्वारा ग्रहण किये गये धर्म को ही मान लेते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे लोग धर्म के विभिन्न पक्षों को समझना चाहते हैं। अपने जीवन के आरम्भिक दिनों में वह धर्म के बारे में इस प्रकार नहीं चिन्तन करता है। किन्तु प्रौढ़ हो जाने पर उसकी जिज्ञासा उसे कचोटने लगती है और तब उसे तर्कबुद्धि का सहारा लेना पड़ता है।

धार्मिक अनुभूति के विषय में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि धार्मिक अनुभूति जिसे होती है, वह अपनी अनुभूति को स्थायी बनाने की आकांक्षा रखता है। किन्तु इस क्षणिक अस्थायी अनुभूति को प्रत्ययों द्वारा ही व्यंक्त करके स्थायी बना सकता है। इस दिशा में तर्कबुद्धि ही उसे मदद कर सकती है।

पॉल तिलिख ने भी तर्कबुद्धि के योगदान को धार्मिक विश्वास के लिये आवश्यक माना है। इसाइ धर्म के सन्देश के प्रसार में जो हत्याएँ हुई, तर्कबुद्धि द्वारा ही स्पष्ट की जा सकती है। किन्तु ह्यूम तिलिख के विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार आस्था या निष्ठा ही धार्मिक विश्वास का अन्तिम स्रोत हो सकता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि तर्कबुद्धि का कोई महत्त्व धार्मिक विश्वास के लिए नहीं है- गलत होगा। धार्मिक विश्वास भले ही प्रत्यक्ष रूप से तर्कबुद्धि पर आश्रित नहीं हो, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से, परोक्ष रूप से तर्क बुद्धि पर आधारित है।

8.2.3 आस्था : धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में

'आस्था' पद का व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। धार्मिक विश्वास के प्रमुख आधारों में 'आस्था' का स्थान आता है। इसके दो कारण हैं : (i) धर्म का केन्द्र बिन्दु ईश्वर है। ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए धर्मदर्शन में कई प्रमाण दिये जाते हैं। इन प्रमाणों को प्रागनुभाविक एवं अनुभाविक दो वर्गों में रखा जा सकता है। किन्तु वे सबके सब ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने में असफल हैं। इसलिए काँट कहते हैं कि ईश्वर आस्था का विषय है। चूँकि बौद्धिक युक्तियाँ ईश्वर के अस्तित्त्व को सिद्ध नहीं कर सकतीं, इसलिए ईश्वर को आस्था का विषयं माना जाता है।

प्रोफेसर ब्राइटमैन ने 'आस्था' का प्रयोग तीन अर्थों में किया है। वे निम्नलिखित हैं :-

प्रथम अर्थ में ईशप्रकाशना को स्वीकार करना आस्था है। बाइबिल में कहा गया है, ''ईसामसीह में आस्था रखें, वह तुम्हारी रक्षा करेगा''। संत अगस्तीन स्वीकृत ज्ञान को 'आस्था' मानते हैं।

द्वितीय अर्थ में आस्था ईश्वरीय वरदान है। संत पॉल के अनुसार 'आस्था', 'प्रेम' और 'आशा' ईश्वर द्वारा प्रदत्त महान वरदान है।

तृतीय अर्थ में आस्था 'निष्ठा' है। आस्था निष्ठा एवं आज्ञाकारिता है।

साधारणत: आस्था को संज्ञानात्मक एवं असंज्ञानात्मक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। जब कोई कहता है कि उसे 'ईश्वर में आस्था है' या 'अमुक मित्र में आस्था है' तो वह असंज्ञानात्मक अर्थ में आस्था का प्रयोग करता है। क्योंकि इससे उसके ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। किन्तु जब कोई कहता है कि उसे ईश्वर पर पूरी आस्था है कि वह हमें प्यार करता है, कि वह इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता है, तो यहाँ पर आस्था का प्रयोग संज्ञानात्मक अर्थ में वह कर रहा है, क्योंकि इससे ईश्वर के संबंध में ज्ञान की प्राप्ति होती है।

आस्था की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिन्हें जानना उचित होगा। बिना किसी तर्क अथवा प्रमाण के किसी विश्वास को स्वीकार कर लेना आस्था है। इस प्रकार को आस्था मूलक विश्वास के प्रति व्यक्ति की अटूट निष्ठा होती है। इस प्रकार की आस्था के विरुद्ध साक्ष्य मिलने पर या प्रमाण मिलने पर भी व्यक्ति अपनी आस्था का परित्याग नहीं करता। उदाहरणार्थ ईश्वर की कृपा एवं दयालुता में आस्था रखने वाला व्यक्ति आजीवन कष्ट भोगने पर भी अपनी आस्था का परित्याग नहीं करता। बेरट्रेन्ड रसेल के अनुसार आस्था किसी ऐसी वस्तु में दृढ़ विश्वास है जिसके लिये कोई साक्ष्य उपलब्ध न हो। जहाँ साक्ष्य और प्रमाण रहता है, वहाँ आस्था का प्रश्न नहीं उठता। 'दो और दो चार होते हैं,' 'पृथ्वी गोल है' को सभी स्वीकार करते हैं। इसके लिए आस्था का जरूरत नहीं होती। आस्था का संबंध मानव की भावनाओं के साथ होता है। अपनी आस्था के लिए व्यक्ति मर मिटने को तैयार रहता है। आस्था के साथ उसका संवेगात्मक संबंध रहता है। आस्था के प्रति मानव की पूर्ण प्रतिबद्धता (commitment) रहती है।

आस्था अयुक्तिपरक तब कहलाती है जिसके न तो पक्ष में और न विपक्ष में युक्तियाँ दी जा सकें, जैसे 'आत्मा की अमरता' ईश्वर का अस्तित्व, स्वर्ग नर्क आदि में आस्था।

युक्ति विरोधक आस्था वैज्ञानिक ज्ञान के विरुद्ध होती है। जैसे ईसा मसीह का कुमारी मारियम से जन्म, अथवा ईसा मसीह का मृत्यूपरान्त पुन:जीवित हो उठना।

युक्ति तटस्थ आस्था में युक्तियों का स्थान नहीं होता है, जैसे स्वर्ग, नर्क, न्याय दिवस में आस्था।

युक्ति परक आस्था के पक्ष में युक्तियाँ, आस्था को कायम रखने के लिए दी जाती हैं।

आस्था के ये विभिन्न प्रकार एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं किये जा सकते।

8.3 सारांश

धार्मिक विश्वास के चार आधार हैं : (1) तर्क बुद्धि, (2) आस्था, (3) ईश प्रकाशना या दैव प्रकाशना और (4) रहस्यात्मक अनुभूति। यहाँ पर केवल तर्कबुद्धि एवं आस्था की चर्चा की गई है। तर्कबुद्धि धार्मिक विश्वास का प्रमुख आधार इसलिए मानी जाती है क्योंकि मनुष्य विवेकशील प्राणी है और वह बिना जाँच पड़ताल किये किसी भी सत्ता में विश्वास नहीं कर सकता, चाहे वह धार्मिक सत्ता ही क्यूँ न हो। एक बात विचारणीय अवश्य है कि केवल मनुष्य ही क्यूँ धार्मिक होता है, पशु क्यूँ नहीं। तर्कबुद्धि या विवेक का सरोकार धर्म एवं धार्मिक विश्वास से अवश्य सिद्ध होता है। कई दार्शनिकों ने तर्कबुद्धि की अहम् भूमिका को धार्मिक विश्वास के बनने बिगड़ने में स्वीकार किया है। यह एक बात है कि तर्कबुद्धि का धार्मिक विश्वास के साथ परोक्ष संबंध हो। आस्था तो धर्म की जड़ है। आस्था वह है जो साक्ष्य के अभाव में भी अटूट बना रहे। विरोधी साक्ष्य एवं विरोधी प्रमाणों के बावजूद आस्था बनी रहती है। इस प्रकार आस्था अपने जैसा अनूठा है और धार्मिक विश्वास का प्रमुख आधार स्वीकार किया जाता है।

8.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

अनूठा = अपने जैसा अकेला, उसके जैसा कुछ भी न हो

8.5 अभ्यास के प्रश्न

8.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) धार्मिक विश्वास निश्चित करता है

(क) मानव की भावनाओं को

(ख) मानव के धार्मिक आचरण को

(ग) मानव की धार्मिक अनुभूति को

(घ) उपरोक्त सभी को

उत्तर – (घ)

8.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. किन आधारों पर आप तर्कबुद्धि को धार्मिक विश्वास का आधार मानते हैं ?

उत्तर – 8.2.2

2. आस्था क्या है और आप किस आधार पर इसे धार्मिक विश्वास का आधार मानते हैं ?

उत्तर – 8.2.3

8.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. किस प्रकार तर्कबुद्धि एवं आस्था धार्मिक विश्वास के आधार हैं ?

उत्तर – 8.2.2, 8.2.3

8.6 प्रस्तावित पाठ

1. डब्ल्यु० टी० ब्लैक स्टोन : **द प्रोबलेम ऑफ रिलिजियस नॉलेज**
2. जॉन हिक : **फेथ एन्ड नॉलेज**
3. ई० एस० ब्राइट मैन : **ए फिलासफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 9

दैव-प्रकाशना एवं रहस्यानुभूति

पाठ-संरचना

9.0 उद्देश्य
9.1 विषय प्रवेश
9.2 मुख्य विषय
    9.2.1 धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में दैव-प्रकाशना
    9.2.2 रहस्यानुभूति : धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में
9.3 सारांश
9.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
9.5 अभ्यास के प्रश्न
    9.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
    9.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
    9.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
9.6 प्रस्तावित पाठ

9.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य दैव प्रकाशना और रहस्यानुभूति का धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में मूल्यांकन करना है।

9.1 विषय प्रवेश

धर्म का संबंध ईश्वर, आत्मा, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि से है जो मानव की शक्तियों के द्वारा जानी नहीं जा सकती। समस्या यह है कि इन सत्ताओं में किस आधार पर विश्वास किया जाय ? धार्मिक चिन्तकों के अनुसार उन पर, ईशप्रकाशन और बहुत ही पहुँचे हुए धार्मिक व्यक्तियों की रहस्यानुभृति के आधार पर किया जा सकता है।

9.2 मुख्य विषय

धार्मिक विश्वास के विभिन्न आधारों में दैवप्रकाशना और रहस्यानुभूति का बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'प्रकाशना' का अर्थ 'रहस्योद्घाटन' 'भेद खोलना' होता है। धर्म में दैव प्रकाशना को इस प्रकार परिभाषित

किया जा सकता है, ''दैव-प्रकाशना'' का अर्थ ईश्वर द्वारा कुछ सत्यों को विवेकशील प्राणी के समक्ष उद्घाटित करना है – जिस माध्यम से इन सत्यों का उद्घाटन होता है, वह साधारण प्राकृतिक साधनों से परे होता है। दैव-प्रकाशना वह माध्यम है जिसके द्वारा ईश्वर अपने बारे में मानव को ज्ञान देता है। मानव का धार्मिक ज्ञान वास्तव में ईश्वरीय ज्ञान है, मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान नहीं। ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही मानव का धर्म सम्बन्धी ज्ञान है। धार्मिक अनुभूति कई रूपों में प्रकट हो सकती है। रहस्यात्मक अनुभूति उनमें से एक है। इस तरह की अनुभूति में मानव को ईश्वर का साक्षात्कार होता है और मानव को चरम आनन्द की अनुभूति होती है। यह वह परम आनन्ददायक अनुभूति है जिसमें मानव अपने को ईश्वर के साथ एकाकार होने की अनुभूति प्राप्त करता है।

9.2.1 धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में दैव प्रकाशना

दैव प्रकाशना से हम ईश्वर प्रदत्त संदेश या कोई अतिप्राकृतिक साधन द्वारा प्रकाशित सच्ची सूचना समझते हैं। जिसे हम अपने स्वाभाविक साधनों द्वारा किसी प्रकार ढूँढ़ नहीं सकते या प्राप्त नहीं कर सकते। दैव प्रकाशना से ईश्वर की स्वयं प्रकाशना का भी बोध होता है। स्वयं ईश्वर अपने आप को प्रकाशित करता है। ईश्वर सत्य सन्देश या सत्य को उद्घाटित करता है या स्वयं अपने आप को मानव के समक्ष प्रकाशित करता है। विश्व के समस्त महान धर्म दैव प्रकाशना में विश्वास करते हैं। हिन्दू धर्म भी यह मानता है कि सत्य साधना में लीन अतिप्राचीन सन्त-महात्माओं के माध्यम से ईश्वर ने कतिपय सत्यों को उद्घाटित किया है। वेद को ईश्वरवाणी माना जाता है।

गैलोवे के अनुसार दैवप्रकाशना ईश्वर पर परोक्ष या अपरोक्ष रूप से आधारित सत्य प्राप्ति का साधन है। जॉनहिक की दृष्टि में दैव प्रकाशना मानव को ईश्वर द्वारा प्रमाणित सत्यों को प्रदान करना है। दैव प्रकाशना ईश्वर या मानव की एक तरफा क्रिया नहीं है। यह तभी संभव होता है जब ईश्वर सत्य को उद्घाटित करे और मानव सक्रियता पूर्वक अपने विवेक द्वारा उन्हें ग्रहण करे और उसे समझे। यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर सत्यों का प्रकाशन बौद्धिक प्राणियों में ही करता है, निर्जीव एवं बुद्धिहीन प्राणियों में नहीं। केवल योग्य प्राणियों के लिए ही वह सत्यों का प्रकाशन करता है या आत्मप्रकाशन करता है। ईश्वर अपने को कई प्रकार से प्रकाशित करता है। वे अपने को निम्नलिखित साधनों द्वारा प्रकाशित करते हैं :–

(i) सृष्टि द्वारा – ईश्वर अपने कार्यों द्वारा अपने को प्रकाशित करता है। यह सृष्टि उसी ईश्वर की रचना है। इस रचना का जर्रा, जर्रा उसकी नूर का साक्ष्य देता है। इस अद्‌भुत एवं विलक्षण रचना में ईश्वर अपने को प्रकट करता है। यदि हम इस सृष्टि का गौर से अवलोकन करें, तो हमें ईश्वर का ज्ञान सहज में हो सकता है।

(ii) धर्मशास्त्रों द्वारा – ईश्वर विभिन्न धर्मशास्त्रों द्वारा भी अपने को प्रकाशित करता है। वेद, गीता, बाइबिल, कुरान आदि ऐसे धर्मशास्त्र हैं जो ईश्वर की वाणी को ही प्रकाशित करते हैं। इस्लाम धर्म के अनुसार कुरान ईश्वरीय वचन है, जिसे ईश्वर ने मुहम्मद साहब के माध्यम से प्रकट किया है। मुहम्मद साहब को अद्‌भुत अद्‌भुत ढंग से यह ज्ञान प्राप्त होता था। ईसाई भी बाइबिल को ईश्वर-वाणी मानते हैं। यदि सचमुच ईश्वर है, तो यह तर्कतः सम्भव है कि उसने स्वयं धर्मग्रन्थों की रचना की या पैगम्बरों, ऋषियों द्वारा अपने संदेश मानव को पहुँचाया हो।

(iii) अवतार द्वारा – ईश्वर विभिन्न रूपों में अवतार लेकर मानव को चेताने और उन्हें सही मार्ग-दर्शन कराने को अवतरित होते हैं – ऐसा कुछ धर्मों में विश्वास किया जाता है। भगवान कृष्ण, जेसस क्राइस्ट और मुहम्मद साहब को ईश्वर का अवतार ही माना जाता है। लूथर और कुछ इसाई ईश्वरविज्ञों के अनुसार ईश्वर अपने आपको व्यक्ति के जीवन और कर्त्तृत्व के द्वारा प्रकट करता है। एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर किसी न किसी व्यक्तित्व के माध्यम से ही अपने को प्रकट करता है। गीता के अनुसार 'अवतार' इस दिक् और काल रूपी जगत

में मानव के रूप में इस जगत के प्राणियों को अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है। गीता में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है 'यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।'

(iv) साक्षात्कार द्वारा – दैव प्रकाशना का एक रूप यह भी है कि भगवान भक्त को स्वयं दर्शन देता है। भक्त भगवान का साक्षात्कार कर बहुत ही शक्तिशाली अनुभव करता है। जिस प्रकार पर्वत शिखर पर सबसे पहले उगते हुए सूरज की पहली किरण पड़ती है, उसी प्रकार जन समुदाय की भीड़ में जो सबसे ऊँचे स्थान पर (आध्यातिमक दृष्टि से) रहते हैं, वैसे सन्त, महात्मा, पैगम्बरों को ईश्वर का साक्ष्य सर्वप्रथम प्राप्त होता है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि वह भक्तों द्वारा भक्ति के माध्यम से जाने जाते हैं और भक्ति के द्वारा ही उन्हें पाया भी जा सकता है।

(v) अन्य साधनों द्वारा – ईश्वर कभी-कभी आकाशवाणी, दिव्य दर्शन, दिवा स्वप्न, संत एवं साधुओं द्वारा भी अपने को प्रकाशित करते हैं। महात्मा गाँधी आत्मा की आवाज को ईश्वर की आवाज समझते थे। महात्मा गाँधी विकट परिस्थितियों से निबटने के लिए आत्मा की आवाज पर ध्यान देते थे– आत्मा की आवाज, ईश्वरीय आदेश के रूप में वे ग्रहण करते थे।

दैव प्रकाशना सक्रिय ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता पर आधारित है। ईश्वर ही सत्यों को उद्घाटित करने की शक्ति रखता है। वह इसमें समर्थ है। दैव प्रकाशना की दूसरी मान्यता है विवेकशील प्राणी के रूप में मानव का अस्तित्व, जो ईश्वरीय प्रकाशना को समझ सके, ईश्वर द्वारा उद्घाटित सत्यों को समझने की क्षमता रखता हो। दैव प्रकाशना ईश्वरीय दान है और जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, उनके लिए मान्य और सम्मान जनक है।

दैव प्रकाशना की आवश्यकता क्यों होती है ? जब कभी मानव कठिनाई में पड़ जाता है और उससे उबरने की राह नहीं दिखती, तो वह ईश्वरीय प्रकाशना की आवश्यकता महसूस करता है। दूसरा प्रश्न प्रकाशना के प्रमाणीकरण के बारे में उठाया जा सकता है। क्या दैव प्रकाशना का प्रमाणीकरण संभव है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। ईश्वर में निष्ठा रखने वाले को ही दैव प्रकाशना बिल्कुल सत्य दिखती है। दैव प्रकाशन की सत्यता, धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए है, वे उसे बिल्कुल प्रमाणिक मानते हैं। दैव प्रकाशना को अस्वीकार करना ईश्वर की प्रकाशना शक्ति पर प्रश्न चिह्न लगाना है। ईश्वर को कोई भी पूर्णरूपेण नहीं जान सकता। ईश्वर के प्रति हम श्रद्धा व्यक्त करते हैं, किन्तु ईश्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

9.2.2 रहस्यानुभूति धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में

रहस्यानुभूति भी धार्मिक विश्वास का एक सबल आधार है। किन्तु रहस्यानुभूति क्या है ? रहस्यानुभूति भी एक प्रकार की धार्मिक अनुभूति है जो ओटो के न्युमिनस एक्सपिरियेन्स के बहुत निकट है। ओटो का न्युमिनस एक्सपीरियेन्स एक जटिल प्रकार की अनुभूति है जिसमें (क) एक प्रकार का श्रद्धा मिश्रित भय (ख) अपने को बिल्कुल ही निकम्मा एवं उस शक्ति के सामने बिल्कुल असहाय होने की भावना (ग) यह विश्वास कि बहुत अधिक जीवन्त, सक्रिय शक्ति के साथ उसका टकराव हुआ है (घ) कुछ रहस्यमय विस्मय जनित विषय जो साधारण अनुभूति से बिल्कुल अलग है (ङ) उस शक्ति के प्रति आकर्षण की भावना भी शामिल रहती है। एक अजीब सी इच्छा रहती है कि इस तरह की अनुभूति सदा उसे होती रहे। यद्यपि रहस्यमय अनुभूति इस प्रकार की अनुभूति के जैसा ही कुछ है, फिर भी उनमें अन्तर करना चाहिए। न्युमिनस एक्सपिरियेन्स में अनुभव के विषय से एक दूरी की भावना व्याप्त रहती है, किन्तु रहस्यमय अनुभूति में उस विषय के साथ एकाकार हो जाने की, अपने को उस विषय में लय कर देने की प्रवृत्ति रहती है। न्युमिनस एक्सपिरियेन्स प्राप्त व्यक्ति अपने विषय को व्यक्तिगत रूप में वर्णन करता है, किन्तु रहस्यमय अनुभूति में अनुभूतिकर्ता अपने विषय को व्यक्तित्व रहित रूप में वर्णन करता है।

रहस्यानुभूति की अवधारणा प्रायः सभी धर्मों में स्वीकार की गयी है। उपनिषदों में, सूफी मत में, इस्लाम और ईसाई धर्मों में रहस्यानुभूति का सजीव चित्रण मिलता है। पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लेटिनस, डब्ल्यू० आर० इन्डो, अन्डरहिल, आर० एम० जोन्स, हेनरी वर्गसन के दर्शन में रहस्यानुभूति की स्पष्ट झलक मिलती है। विलियम जेम्स एवं डब्ल्यू० टी० स्टेस ने तो रहस्यानूभूति का सर्वांगीन एवं अधिकृत विश्लेषण किया है। अर्वाचीन भारतीय दार्शनिकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और राधाकृष्णन ने रहस्यानुभूति के महत्व एवं भूमिका की सराहना (धर्म के क्षेत्र में) की है। रहस्यानुभूति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

रहस्यानुभूति में भक्त और भगवान एक हो जाते हैं। कहा जाता है कि भक्त अपनी अस्मिता भगवान में लय कर देता है और भगवान से अलग उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता। भक्त को कुछ क्षणों के लिए ऐसा मालूम पड़ता है कि उसका भगवान के साथ आत्मसात हो गया है। किन्तु यह भावना शाश्वत नहीं रहती फिर भी भक्त को अतिशय आनन्द की अनुभूति होती है। जब भक्त भगवान में अपने को पूर्ण समर्पित कर देता है तो उसकी सभी आकांक्षाएँ विलुप्त हो जाती हैं और उसकी तमाम इच्छाएँ ईश्वर के आदेशों के पालन में ही निहित रहती हैं। वास्तविकता यह है कि भक्न भगवान के प्रेम में इस प्रकार विभोर हो जाता है कि उसे भगवान के साथ एक हो जाने का आभास होता है।

रहस्यानुभूति की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपनी रहस्यानुभूति को स्पष्ट और सुबोध भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता है, वास्तव में भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। जब राजा मिलिन्द ने बौद्ध भिक्षुक नागसेन से निर्वाण की अवस्था वर्णन करने को कहा तो नागसेन ने आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया और कहा कि 'मधु से भी मीठा' सागर से भी अधिक गहरा, पर्वत शिखर से भी ऊँचा इत्यादि।

ओटो के अनुसार रहस्यमय अनुभूति अनूठी और अद्भुत अनुभूति है। इसके जैसा कुछ भी नहीं है। विलियम जेम्स ने रहस्यानुभूति की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं:–

(i) अकथनीयता – रहस्यानुभूति अकथनीय होती है अर्थात् इसे भाषा द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। जिस तरह गूँगा गुड़ के स्वाद का अनुभव तो करता है, पर शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार रहस्यानुभूति को रहस्यवादी शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

(ii) क्षणभंगुरता – रहस्यानुभूति क्षणिक होती है, किन्तु इसकी छाप रहस्यवादी पर आजीवन रहती है।

(iii) बौद्धिकता – रहस्यानुभूति अकथनीय, वर्णनातीत होते हुए भी बौद्धिक अथवा ज्ञानदायक होती है। इसमें ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह ज्ञानात्मक प्रक्रिया है। रहस्यानुभूति में ईश्वर की सत्ता पर थोड़ा भी संशय नहीं होता।

(iv) निष्क्रियता – रहस्यानुभूति में व्यक्ति शिथिल, निश्चेष्ट एवं निष्क्रिय हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि किसी अनुभवातीत, महान सत्ता ने उसे त्रस्त कर रखा है।

रहस्यानुभूति आत्मगत अनुभूति है। इसे न तो दुहराया जा सकता है और न कोई अन्य व्यक्ति इसे देख सकता है। यह पूर्णरूपेण आत्मगत मनोवैज्ञानिक अनुभूति है। किन्तु इन दोषों के बावजूद रहस्यानुभूति धार्मिक विश्वास का सशक्त आधार मानी जाती है।

9.3 सारांश

रहस्यानुभूति दैव प्रकाशना दोनों ही धार्मिक विश्वास के सशक्त आधार हैं। यह सच है कि केवल ईश्वरवादी ही इस विचार से सहमत हो सकते हैं। दैव प्रकाशना द्वारा ईश्वर या तो स्वयं अपने को भक्त के सामने प्रकट करता है या किसी धर्मपरायण व्यक्ति के माध्यम से कुछ ऐसे सत्यों को उद्घाटित करता है जो साधारण प्राकृतिक माध्यमों के द्वारा संभव नहीं है। यह बात सही है कि जो निष्ठावान होता है, जिसे ईश्वर की सत्ता एवं महिमा पर अटूट विश्वास रहता है, उसे ही इस प्रकार की दैव प्रकाशना प्राप्त होती है या उसी के माध्यम से ईश्वर कुछ सत्यों को प्रकाशित करता है। ईश्वरानुभूति रहस्यवादी अनुभूति है। इस रहस्यानुभूति में व्यक्ति को

ईश्वर से सीधा साक्षात्कार होता है और वह इस अनुभूति से आह्लादित एवं प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त करता है। यद्यपि दोनों ही आत्मगत अनुभूति हैं, फिर भी धर्म में, खास कर ईश्वरवादी धर्म में दोनों का महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानजनक स्थान है।

9.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

अकथनीय = जो शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सके।

बौद्धिक (Noetic) = जो ज्ञान देता है।

9.5 अभ्यास के प्रश्न

9.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) दैव प्रकाशना है

(क) मित्र द्वारा दिया गया सन्देश

(ख) भेदिया द्वारा रहस्योद्‌घाटन

(ग) ईश्वर द्वारा दिया गया सन्देश

(घ) मित्र द्वारा रहस्योद्‌घाटन।

उत्तर – (ग)

(ii) रहस्यानुभूति

(क) ईश्वर का साक्षात्कार है

(ख) ईश्वर का दर्शन है

(ग) ईश्वर में अपने को लीन कर देना है

(घ) उपरोक्त सभी है।

उत्तर – (घ)

9.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में दैव प्रकाशना की व्याख्या करें।

उत्तर – 9.2.1

2. रहस्यानुभूति धार्मिक विश्वास का आधार किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर – 9.2.2

9.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. दैव प्रकाशना और रहस्यानुभूति किस प्रकार धार्मिक विश्वास के आधार हो सकते हैं ?

उत्तर – 9.2.1, 9.2.2

9.6 प्रस्तावित पाठ

1. रुडॉल्फ ओटो : **आइडिया ऑफ दी होली**
2. रुडॉल्फ ओटो : **मिस्टिसिज्म इस्ट एन्ड वेस्ट**
3. डब्ल्यू० टी० स्टेस : **मिस्टिसीज्म एन्ड फेथ**
4. आर० सी० जेहनर : **मिस्टीसीज्म-सेक्रेड एन्ड प्रोफेन**

◆◆◆

इकाई 10

प्रारंभिक धर्म के विभिन्न प्रकार

पाठ-संरचना

10.0 उद्देश्य
10.1 विषय प्रवेश
10.2 मुख्य विषय
10.2.1 मानावाद
10.2.2 प्राणवाद
10.2.3 फिटिशवाद
10.3 सारांश
10.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
10.5 अभ्यास के प्रश्न
10.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
10.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
10.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
10.6 प्रस्तावित पाठ

10.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य प्रारंभिक (आदिम) धर्म के विभिन्न रूपों से अवगत कराना और विभिन्न प्रकार के धर्मों की विशिष्टता से परिचित कराना है।

10.1 विषय प्रवेश

धर्म के उदय एवं विकास की प्रारंभिक अवस्था ही आदिम धर्म है। प्रारंभिक धर्म उस प्रकार के धर्म का द्योतक है जो असभ्य, अशिक्षित एवं अनपढ़ लोगों में प्रचलित था। यह धर्म की सर्वथा अविकसित अवस्था है। जिसमें तर्क एवं विवेक का स्थान बिल्कुल नगण्य होता है तथा भावना एवं संवेग का प्राधान्य। इस प्रकार के धर्म में जादू-टोना, अंधविश्वास, भ्रम आदि का बाहुल्य होता है। ऐसा समझना कि इस प्रकार की धार्मिकता केवल प्रारंभिक काल में, बहुत पुराने जमाने में थी, भ्रमात्मक होगा। आज भी कई जनजातियों में, ट्राइबल्स में इस प्रकार का धर्म पाया जाता है। किन्तु एक बात सत्य है कि धर्म का आधुनिक रूप इसी प्रकार के आदिम धर्म से विकसित हुआ है।

10.2 मुख्य विषय

प्रारंभिक धर्मों का कोई धर्मशास्त्र नहीं है और न उनका कोई पैगम्बर ही है और न कोई सन्त या फकीर उन धर्मों का प्रवर्त्तक रहा है। ऐसा माना जाता है कि आज के विकसित धर्म किसी न किसी आदिम धर्म का ही विकसित रूप है और आज भी उनके अवशिष्ट चिह्न न्यूनाधिक रूप में विधमान हैं। आदिम धर्म के कई रूप हैं किन्तु यहाँ हम केवल तीन प्रकार के आदिम धर्मों की चर्चा करेंगे। ये आदिम धर्म हैं– मानावाद, प्राणवाद और फिटिशवाद।

10.2.1 मानावाद

मानावाद वह धार्मिक विश्वास है जिसमें एक व्यक्तित्व रहित, रहस्यपूर्ण शक्ति जिसे माना कहा जाता है, उसकी पूजा की जाती है और यह उपासना कई धार्मिक कृत्यों एवं रीति-रिवाजों द्वारा सम्पन्न की जाती है। 'माना' शक्ति मानव के चारों ओर स्थित विभिन्न पदार्थों और जीवों में वास कर सकती है।

जिन पदार्थों में 'माना' शक्ति विराजमान रहती है उसके प्रति मानव के हृदय में भय मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'माना' स्वयं भौतिक शक्ति नहीं है, एक प्रकार से अति प्राकृतिक शक्ति है जो भौतिक पदार्थों में विद्यमान रह सकती है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति भौतिक शक्ति के रूप में हो सकती है। 'माना' की निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं :-

(1) माना भौतिक शक्ति से भिन्न, अतिप्राकृतिक, व्यक्तित्व रहित, रहस्यमय शक्ति है।

(2) यद्यपि माना स्वत: भौतिक शक्ति नहीं है, फिर भी इसकी अभिव्यक्ति भौतिक पदार्थों के माध्यम से हो सकती है।

(3) माया छाया रूप में चलने-फिरने वाली शक्ति है जो शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कार्य कर सकती है। इसका प्रयोग मित्रों को लाभ पहुँचाने एवं शत्रुओं को हानि पहुँचाने के लिये किया जा सकता है। 'माना' में मनुष्यों की बातें सुनने, समझने की शक्ति होती है। अत: इसमें न्यूनाधिक रूप में संकल्प भी पाया जाता है।

इस प्रकार माना एक अनूठा, रहस्यमय, असाधारण और अवैयक्तिक शक्ति है जो श्रद्धालुओं के हृदय में भय-मिश्रित श्रद्धा का भाव उदित करती है। ब्राइटमैन के शब्दों में माना उस शक्ति या बल का नाम है जिसके द्वारा यह अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न करता है।

आदिम लोगों का विश्वास था कि अदृश्य माना शक्ति विभिन्न भौतिक वस्तुओं में रह सकती है। यदि कोई राजा मानायुक्त ताबीज पहन ले तो युद्ध में उसकी विजय निश्चित है। माना युक्त पंछी यदि वृक्ष पर बैठ जाता है, तो वह पेड़ फल और फूल से लद जायगा। आदिम जातियों का विश्वास था कि उनके जीवन का हर क्षेत्र 'माना' के प्रभाव में रहता है। उनके बागों में लगे पौधों का विकास, अच्छी फसल, घर के मवेशियों की वृद्धि आदि सभी माना के ऊपर निर्भर करता है। मानवों में राजा, चिकित्सक, पुजारी, मंत्री आदि में माना शक्ति रहती है।

मानावाद के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानावाद में अन्धविश्वास की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। माना में विद्युतशक्ति जैसी ही गतिशील शक्ति होती है जो एक वस्तु से दूसरी वस्तु में जा सकती है।

मानावाद के दो पहलू हैं : एक भावात्मक और दूसरा निषेधात्मक। माना का निषेधात्मक पहलू टैबू कहलाता है। आदिम लोग सदा जंगली जानवरों, संक्रामक बीमारियों और हिंसक जातियों से भयभीत रहा करते थे। अत: अनिष्ट से बचने के लिए वे कुछ 'टैबू' का प्रयोग करते थे। मृतक का शरीर, नवजात शिशु, मुखिया, पुजारी, राजा आदि टैबू समझे जाते थे तथा इनका स्पर्श वर्जित था। जो व्यक्ति जितना अधिक महत्वपूर्ण तथा

पवित्र समझा जाता था उसे टैबू द्वारा उतना ही अस्पृश्य बनाया जाता था। उनका विश्वास था कि निषिद्ध वस्तुओं का उपयोग करने से, निषिद्ध कार्यों को करने से समाज को हानि पहुँचेगी। मर्फी ने बताया है कि टैबू के दो मुख्य लाभ हैं– समाज को पवित्र लोगों के माना से बचाना एवं स्वयं पवित्र लोगों की सुरक्षा।

मानावाद में एक अनिश्चित और व्यक्तित्त्वहीन शक्ति की पूजा की जाती है। कुछ विचारक जीववाद (Animism) को मानावाद से अधिक प्राचीन मानते हैं। टायलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीववाद से हुई है। किन्तु डा० मैरेट के अनुसार मानावाद जीववाद से पहले से प्रचलित था। उनके अनुसार जीववाद धर्म नहीं है बल्कि दर्शन है जिसमें मनुष्य और प्रकृति की बौद्धिक व्याख्या का प्रयास किया गया है। अतः मानावादी विचारधारा को ही धर्म की उत्पत्ति का आधार माना जाना चाहिए। यह सच है कि मानावाद और जीववाद में कुछ तत्त्व इस प्रकार घुल मिल गये हैं कि दोनों को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन हो जाता है। मानावाद में ठोस एवं द्रव्य (Abstract) में, वैयक्तिक और अवैयक्तिक का भेद सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान है, लेकिन फिर भी मानावाद को धर्म का अनिश्चित, अविश्लेष्य और प्रारंभिक स्वरूप मानना अधिक उपयुक्त लगता है।

10.2.2 प्राणवाद

प्राणवाद आदिम धर्म का एक मुख्य रूप है। प्राणवाद जीववाद का ही एक विकसित रूप है। प्राणवाद प्रकृति में सर्वत्र आत्माओं (spirits) का निवास मानता है। इस धर्म के अनुसार आत्माएँ, प्राकृतिक वस्तुओं को अपनी प्रयोजन-सिद्धि के साधन के रूप में प्रयोग करती है। आत्माएँ अनेक होती हैं। प्राकृतिक वस्तुएँ जैसे नदी, पहाड़, जल, अग्नि, वृक्ष आदि में स्पिरिट्स पाये जाते हैं। आदिम लोगों का विश्वास था कि अनेक आत्माएँ पृथ्वी पर इधर-उधर विचरण करती रहती हैं। इन आत्माओं को ओरियेड्स, निम्फस तथा डिरिथेड्स के नाम से जाना जाता है। ये आत्माएँ किसी प्राकृतिक वस्तु में स्वेच्छानुसार कुछ समय तक निवास करने के बाद उसका परित्याग कर सकती हैं तथा पुनः उसमें आ सकती हैं।

प्राणवाद धार्मिक विकास की वह अवस्था है जिससे होकर प्रायः सभी धर्म गुजरे होते हैं। इसकी छाप प्रायः हर धर्म में मिलती है। गैलोवे के अनुसार प्राणवाद वह अवस्था है जिसे सभी धर्म में सभी जगह कोई न कोई चिन्ह अवश्य मिलता है। आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका की निम्न जातियों में प्राणवाद का विकसित रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्राणवाद में जीववाद की तुलना में आत्मा का अधिक विकसित रूप परिलक्षित होता है। जीववाद में भी विश्व की विविध वस्तुओं में आत्मा (spirit) का निवास माना जाता है, लेकिन जहाँ जीववाद में वस्तु के साथ आत्मा का अवियोज्य संबंध माना जाता है, वहाँ प्राणवाद में यह संबंध वियोज्य होता है अर्थात् प्राणवाद में आत्मा वस्तु में कुछ दिनों तक निवास कर अलग हो सकती है एवं पुनः उसमें आ सकती है। इस प्रकार प्राणवाद में वस्तुओं से बद्ध आत्मा विमुक्त भी हो सकती है। जीववाद में आत्मा का अत्यन्त अस्पष्ट तथा प्रारंभिक रूप परिलक्षित होता है, जबकि प्राणवाद में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और उन्नत स्वरूप देखा जा सकता है। गैलोवे ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्राणवाद में जीववाद से अधिक विकसित रूप में आत्मा की अवधारणा पाई जाती है। प्राणवाद आत्माओं की विभिन्न कोटि में विश्वास करता है। कुछ आत्माएँ नेक होती हैं और कुछ आत्माएँ दुष्ट होती हैं। दुष्ट आत्माएँ रोग, बीमारी को उत्पन्न करती हैं। रोग आदिम लोगों के लिए एक रहस्य था। इसकी व्याख्या के लिए दुष्ट आत्मा की धारणा उन्होंने बनायी। जब कोई बीमार पड़ जाता था, तो प्राणवादी उसका कारण दुष्ट आत्मा को ठहराते थे। प्राणवाद यह भी स्वीकार करता है कि शरीर के कष्टों की अनुभूति शरीर स्थित आत्मा को भी होती है। दुष्ट आत्मा को शरीर से निष्काषित करने के लिए उन्होंने कई विधि-विधानों का विकास किया। मुखिया, राजा आदि को मानवीय गुणों से युक्त स्पिरिट माना गया तथा उन्हें अति मानवीय शक्ति से सम्पन्न समझा गया। प्राणवाद आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करता है और इसका आधार स्वप्न को मानते हैं। सपने में मानव को तरह-तरह की अनुभूति होती है, वे बिछुड़े हुए, मृत संबंधियों से स्वप्न में

मिलते हैं। इस आधार पर उनका मानना है कि आत्मा शरीर से अलग होकर इधर-उधर भ्रमण कर सकती है और फिर शरीर में निवास कर सकती है। अपनी छाया को अपने साथ-साथ चलते देखकर, कभी-कभी छाया का गायब हो जाना देख कर उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने वाली सूक्ष्म आत्मा की धारणा को भी स्वीकारा।

आदिम धर्म के एकरूप में प्राणवाद धर्म के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। शरीर से स्वतंत्र आत्मा की अवधारणा शरीर और आत्मा को द्वैत (जो आधुनिक धर्म में स्वीकार किया जाता है) का विचार प्राणवाद का ही योगदान है। एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की धारणा भी अस्फुट रूप में प्राणवाद में मौजूद थी। पूर्वज-पूजा यद्यपि बहुत ही प्राचीन प्रचलन है, फिर भी इसका आधार प्राणवाद ही है।

10.2.3 फिटिशवाद

फिटिश (Fetish) शब्द Feitico से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है Charm या आकर्षण। फिटिशवाद वह धार्मिक विश्वास है जिसमें व्यक्ति किसी भौतिक वस्तु जैसे पत्थर या मृत मानव शरीर को किसी अंग की उपासना इसलिए की जाती है कि उसमें आत्मा की उपस्थिति से कोई जादुई शक्ति आ गई है। फिटिश की उपासना या आराधना इसलिए की जाती है क्योंकि उसमें आत्मा (spirit) के निवास के कारण रहस्यमय शक्ति पाई जाती है। यह वस्तु मिट्टी, पत्थर, मृतक शरीर का कोई अंग या काठ का कोई टुकड़ा भी हो सकता है। इस प्रकार का संबंध आत्मा और वस्तु में स्थाई रूप से नहीं होता है, अल्पकालीन संबंध ही होता है। जब वह आत्मा उस वस्तु को छोड़ देती है तो उसकी जादुई शक्ति भी समाप्त हो जाती है। आत्मा क्षरा परिव्यक्त होने के बाद फिटिश को भी परित्याग दिया जाता है, क्योंकि उससे अब व्यक्ति का कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस तरह की प्रवृत्ति पश्चिमी अफ्रीका के निग्रो लोगों में देखी जाती है। फिटिशवाद में अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए मानव आत्मा को अपने नियंत्रण में रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के धर्म में जादू-टोना का बाहुल्य है।

कुछ विद्धानों के अनुसार फिटिशवाद धर्म का निकृष्टतम रूप है, किन्तु गैलोवे जैसे कतिपय धर्म दार्शनिक इसे विकसित प्राणवाद की अभिव्यक्ति तथा परिणाम मानते हैं। इस धर्म में मानव का उच्चत्तर शक्तियों के अधीन रहने का प्रयास नहीं है, बल्कि उसे ही अपने अधीन एवं नियंत्रण में रखने की अभिलाषा झलकती है। मनुष्य उच्चत्तर शक्ति या आत्मा को अपने वश में कर उससे अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति करता है। अतः यह धर्म का उत्थान नहीं, बल्कि उसका पतन है।

उपरोक्त विवरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी प्रकार के धर्म का प्रचलन अवश्य था। किन्तु धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों में अन्तर परिलक्षित होता है। आदिम काल में लोगों का विश्वास शुभ एवं अशुभ शक्तियों, आत्माओं एवं प्रेतों में विश्वास था। उन्हें प्रसन्न करने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक विधि-विधान, अनुष्ठान आदि को अपनाया, जिसके परिणाम-स्वरूप मानावाद, प्राणवाद, फिटिशवाद आदि आदिम धर्मों का विकास हुआ।

10.3 सारांश

आदिम या प्रारंभिक धर्म का सामान्य अर्थ है वह धर्म, जो अतिप्राचीन आदिम लोगों में प्रचलित था। यह एक प्रकार का अत्यन्त भोंडा, अविकसित, अन्धविश्वासों से परिपूर्ण धर्म है, जो असभ्य, अशिक्षित, अनपढ़ लोगों में प्रचलित था। आज भी कई ऐसी जनजातियाँ हैं, जिनमें इस तरह का धार्मिक विश्वास है। अतः आदिम धर्म से अति प्राचीन धर्म ही नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार के धर्म में भावना और संवेग का बाहुल्य रहता है एवं बुद्धि और तर्क का अभाव। आदिम धर्म के कई रूप हैं जिनमें मानावाद, प्राणवाद और फिटिशवाद प्रमुख हैं। मानावाद को कुछ लोग अति प्राचीन धर्म मानते हैं तो कुछ लोग जीववाद को। धर्मशास्त्र के विद्वानों के

अनुसार जीववाद दर्शन अधिक है, धर्म काम मानावाद के अनुसार माना एक अदृश्य, रहस्यमय, व्यक्तित्वरहित शक्ति है जो अभौतिक या अतिप्राकृतिक होते हुए भी भौतिक वस्तुओं में वास करती है और इसी कारण उसकी पूजा विविध धार्मिक अनुष्ठानों के साथ होती है। प्राणवाद भी आदिम धर्म का एक प्रमुख रूप है। इस धर्म के अनुसार विश्व स्पिरिट्स या आत्माओं से भरा है। आत्मा शरीर से भिन्न है और विभिन्न शरीरों में एक के बाद एक में निवास कर सकती है। कुछ दिन निवास करने के बाद आत्मा उस शरीर का परित्याग कर सकती है। इस प्रकार के धर्म में संवेग एवं भावना की भूमिका अधिक रहती है। फिटिशवाद प्राणवाद का ही एक विकसित रूप है जो धर्म के उन्नत पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करके धर्म के पतन का प्रतिनिधित्व करता है। इस धर्म में फिटिश के रूप में किसी पत्थर के टुकड़े का, या मृतक शरीर के किसी अंग या काठ के बने किसी पदार्थ की पूजा की जाती है। इस धर्म की मान्यता है कि फिटिश में स्पिरिट या आत्मा का वास रहता है जिस कारण उसमें रहस्यमय जादुई शक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य उनकी उपासना किसी स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए करता है। जबतक उनकी इच्छाओं की पूर्त्ति होती है, तबतक फिटिश की पूजा होती है किन्तु जब वे उनकी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं कर पाते, तो वे समझते हैं कि फिटिश से जादुई शक्ति चली गई है यानि आत्मा या स्पिरिट अब उसमें नहीं है और तब उस फिटिश को फेंक देते हैं। इस प्रकार फिटिशवाद धर्म की विकास-प्रक्रिया में पतन का द्योतक है।

10.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

माना = एक अति प्राकृतिक, व्यक्तित्व रहित रहस्यमय शक्ति का नाम। यह भौतिक शक्ति तो नहीं किन्तु इस शक्ति की अभिव्यक्ति भौतिक पदार्थों में होती है।

प्राणवाद = जीववाद का विकसित रूप, बाह्य पदार्थों में स्पिरिट का निवास है, ऐसा धार्मिक विश्वास

फिटिसिज्म या **फिटिशवाद** = भौतिक वस्तुओं को आत्मा या प्राण से विभूषित मानकर उनकी उपासना

10.5 अभ्यास के प्रश्न

10.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(i) माना

(क) एक पक्षी है

(ख) मन है

(ग) मन की एक शक्ति है

(घ) एक रहस्यमय, व्यक्तित्वरहित शक्ति है।

उत्तर – (घ)

(ii) प्राणवाद का अर्थ है

(क) भूतों की पूजा

(ख) मृतकों की पूजा

(ग) आत्म की पूजा या प्राणमय तत्त्वों की पूजा

(घ) इनमें से कोई भी नहीं।

उत्तर – (ग)

10.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आदिम धर्म के रूप में मानावाद का विवरण दें।

उत्तर – 10.2.1

2. प्राणवाद की व्याख्या आदिम धर्म के रूप में करें।

उत्तर – 10.2.2

10.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आदिम धर्म के प्रमुख रूपों का वर्णन करें।

उत्तर – 10.2.1, 10.2.2, 10.2.3

10.6 प्रास्तवित पाठ

1. सी० पी० टाइले : **द साइंस ऑफ रिलिजन**
2. इ० एस० ब्राइटमैन : **ए फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
3. जे० मरफी : **द औरिजन एन्ड हिस्ट्री ऑफ रिलिजन**
4. जी० गैलोवे : **द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 11

ईश्वर अस्तित्व के लिये कार्य-कारण एवं विश्वमूलक प्रमाण

पाठ-संरचना

11.0 उद्देश्य
11.1 विषय प्रवेश
11.2 मुख्य विषय
 11.2.1 कार्य-कारण युक्ति
 11.2.2 विश्वमूलक प्रमाण
 11.2.3 मूल्यांकन
11.3 सारांश
11.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
11.5 अभ्यास के प्रश्न
 11.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
 11.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
 11.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
11.6 प्रस्तावित पाठ

11.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य ईश्वर का अस्तित्त्व सिद्ध करने के विभिन्न प्रमाणों में कार्य-कारण एवं विश्वमूलक प्रमाण की सुव्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत करना है। हमलोग इन प्रमाणों के विरुद्ध दिये गये आपत्तियों का भी उल्लेख करेंगे।

11.1 विषय प्रवेश

जो लोग ईश्वर के अस्तित्त्व में विश्वास करते हैं, उनकी धारणा है कि ईश्वर की वास्तविक सत्ता है, यह कोई काल्पनिक सत्ता नहीं है। कार्य-कारण प्रमाण और विश्वमूलक प्रमाण, ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने की विभिन्न युक्तियों में एक है।

11.2 मुख्य विषय

विश्व के स्वरूप का विश्लेषण करके ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने का प्रयास विश्वमूलक प्रमाण करता है। Cosmos शब्द का अर्थ संसार या विश्व है और विश्वमूलक युक्ति विश्व की व्याख्या करने के निमित्त ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करती है। कुछ विचारक विश्व के कार्य-कारण स्वरूप पर बल देते हैं तो कुछ अन्य विचारक विश्व के आकस्मिक स्वरूप को प्रमुखता देते हैं। तदनुसार विश्व मूलक प्रमाण का दो रूप हो जाता है (क) कार्य-कारण युक्ति और (ख) विश्व-मूलक युक्ति। हमलोग पहले कार्य-कारण युक्ति की और बाद में विश्वमूलक युक्ति की व्याख्या करेंगे।

11.2.1 कार्य-कारण युक्ति

सत्ता मूलक प्रमाण 'ईश्वर के विचार' पर ध्यान केन्द्रित कर 'ईश्वर विचार' या 'ईश्वर की धारणा' के अर्थ. को विकसित करता है, किन्तु इस प्रमाण में विश्व की सामान्य विशेषताओं पर ध्यान देकर बताया जाता है कि इन विशिष्टताओं से युक्त संसार .अस्तित्ववान तब तक नहीं हो सकता, जब तक हम उस परम सत्ता, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, की सत्ता स्वीकार नहीं कर लें। थामस एक्वीनस ने कार्य-कारण युक्ति या आदि कारण-युक्ति का निष्पादन इस प्रकार से किया है— जो कुछ भी घटता है, उसका एक कारण अवश्य होता है और फिर इस कारण का भी कोई कारण होगा, फिर उस नये कारण का भी कोई कारण होगा और इसी प्रकार कारणों की एक श्रृंखला बन जाती है। यह श्रृंखला या तो अनन्त हो सकती है या इसका कोई आदि कारण हो सकता है, जहाँ से इस श्रृंखला का प्रारम्भ होता है। एक्वीनस कारणों के अनावस्था दोष से बचने के लिए आदि या सबसे प्रथम कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को मान लेते हैं। अर्थात् ईश्वर ही वह आदि कारण है जिससे कारणों की श्रृंखला का प्रारंभ होता है।

कोई भी घटना अकारण नहीं घटती। हर घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। 'क' का कारण 'ख' है, 'ख' का कारण 'ग', 'ग' का कारण 'घ'। इस प्रकार कारणों का अनुक्रम लगातार बना रहता है। घटनाओं और उनके कारणों की श्रृंखला का कोई अन्त देखने में नहीं आता। अनिश्चित अनन्त कड़ियों का प्रतिगमन भी संभव नहीं हो सकता। अत: अनवस्था दोष से बचने के लिए इस अनुक्रम का, जिसे हम विश्व कहते हैं— कोई न कोई आदि कारण मानना पड़ता है। विश्व के आदि कारण को आद्य-प्रवर्तक या Prime Mover भी कहा जाता है, जिसके द्वारा अन्य सभी घटनाएँ घटती हैं, जो सभी घटनाओं का कारण होता है, पर जो स्वयं किसी .कारण का परिणाम नहीं होता। इसी आद्यप्रवर्त्तक को ईश्वर कहा जाता है। यही ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का आदि कारण है, जिसका कोई कारण नहीं होता, जो स्वयंभू है।

जिसका प्रारम्भ होता है, उसका कारण कोई अवश्य होता है। विज्ञान ने भी इस बात की पुष्टि की है कि यह विश्व कार्य है और इस विश्व का कारण कोई सीमित कारण नहीं हो सकता, क्योंकि फिर उसका भी कारण अवश्य होगा। इस विशाल विश्व का, विविधता से पूर्ण इस विश्व का कारण निश्चय ही कोई अनन्त, असीम सत्ता होगा जिसे हम ईश्वर कहते हैं।

भूगर्भशास्त्रियों ने प्रमाणित किया है कि इस विश्व का प्रारम्भ बहुत पहले हुआ है। अत: इस विश्व की उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होगा। कोई सीमित कारण इस विश्व का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इस विशाल विश्व की उससे व्याख्या नहीं हो सकती। अत: हमें अनन्त असीम कारण के रूप में ईश्वर को मानना पड़ेगा, तभी इस विश्व की समुचित व्याख्या हो सकती है।

मार्टिन्यु एवं फ्लीन्ट ने भी इस युक्ति का समर्थन किया है। प्रोफेसर फ्लिंट ने इस प्रकृति को एक कार्य माना है जिसका कारण ईश्वर है। यद्यपि इतने मनीषियों ने इस युक्ति का समर्थन किया है, फिर भी इस युक्ति के विरुद्ध गंभीर आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

पहली आपत्ति यह है कि इस युक्ति को एक न्याय (Syllogism) के रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है। न्याय का नियम है कि निष्कर्ष कभी भी आधार वाक्यों से अधिक व्यापक नहीं हो सकता। अतः इस युक्ति का निष्कर्ष के रूप में अनन्त ईश्वर की स्थापना करना युक्तिसंगत नहीं है। विश्व विशाल अवश्य है, किन्तु विशाल होने के बावजूद सीमित ही है।

दूसरी आपत्ति यह है कि अनन्त ईश्वर वास्तव में अनन्त और अनिवार्य सत्ता है। किन्तु यह जगत् ईश्वर को सीमित करता है और उसे भी सीमित सत्ता बना देता है।

तीसरी आपत्ति काँट द्वारा उठाई गई है। उनका कहना है कि इस युक्ति में हम कारणता सिद्धांत के आधार पर ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करते हैं। किन्तु कारणता सिद्धांत का हम खंडन कर डालते हैं, जब ईश्वर की सत्ता पर हम इस कारणता को समाप्त कर देते हैं। हमें ईश्वर की सत्ता पर कारणता को अन्त करने का कोई अधिकार नहीं है। केयर्ड भी कान्ट की आपत्ति से सहमति जताते हुए कहते हैं कि सीमित कार्यों के आधार पर अनन्त, असीम सत्ता को कारण के रूप में स्थापित करना असंभव है।

11.2.2 विश्वमूलक युक्ति

थॉमस एक्वीनस ने विश्वमूलक युक्ति को तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह युक्ति इस विश्व की आकस्मिकता पर आधारित है। इस युक्ति का आधार विश्व में व्याप्त आकस्मिकता है। आकस्मिक उसे कहा जाता है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो। विश्व में जितने भी पदार्थ हैं, एक-एक करके वे सबके सब अस्तित्ववान नहीं भी हो सकते हैं। जिन पदार्थों या प्राणी को हम आज देखते हैं, वे आज हैं, किन्तु पहले नहीं थे, भविष्य में उनके नहीं रहने की भी संभावना है। जिस पन्ने को हम अभी पढ़ रहे हैं, वह भी आकस्मिक है, क्योंकि उसका अभी का रूप पेड़, पेड़ के कटने और कागज के रूप में तैयार होने की प्रक्रिया पर आधारित है, मशीन एवं छपाई के साधनों, प्रकाशक, लेखक और छपाई आदि के साधनों पर इनमें से प्रत्येक किसी न किसी अन्य पर निर्भर करते हैं। यदि विश्व का हर पदार्थ आकस्मिक है, तो एक ऐसा भी समय रहा होगा जब इस विश्व का कोई अस्तित्व ही नहीं हो। किन्तु शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति हो सकती है। अतः यदि पहले कुछ भी नहीं था, तो उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु बहुत सारे पदार्थ अस्तित्वमान हैं, इसलिये इनके कारण के रूप में कोई ऐसी सत्ता अवश्य होगी, जो आकस्मिक नहीं हो, जिसका अस्तित्त्व किसी अन्य पर निर्भर नहीं करे अर्थात् वह स्वतंत्र सत्ता जो स्वयं अनिवार्य रूप से अस्तित्त्वान हो, वही ईश्वर है। ईश्वर स्वंयभू है। उसका अस्तित्त्व अनिवार्य है और वही इस विश्व के सभी आकस्मिक पदार्थों का आधार है। प्रोफ्रेसर केयर्ड ने भी इस युक्ति का समर्थन किया है। केयर्ड का भी कहना है कि विश्व आकस्मिक है अथवा हमारी तात्कालिक अनुभूति विषयक विश्व की न कोई वास्तविकता है, न कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व। यह पूरा विश्व दिक् और काल द्वारा सीमित है, इसलिये इसकी सत्ता किसी ऐसी सत्ता पर आधारित है, जो अनिवार्य रूप से स्वतंत्र, पूर्णरूपेण वास्तविक और निरपेक्ष हो अर्थात् ईश्वर का अस्तित्त्व है। ईश्वर अनिवार्य सत्ता है, जो इस आकस्मिक जगत् का आधार है तथा स्वयं पूर्ण, स्वतंत्र, स्वयंभू एवं आवश्यक है।

एक्वीनस के इस आकस्मिकता से अनिवार्य तथा स्वाधीन सत्ता विषयक प्रमाण में अरस्तू एवं प्लेटो दोनों के विचारों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। प्लेटो के अनुसार आत्मा ही वह शक्ति है जो आत्म संचालित है और अन्य सभी चीजों को संचालित करती है। इसी प्रकार अरस्तू के अनुसार एक प्रधान संचालक सर्वोपरि है जो सभी घटनाओं का संचालन करता है और स्वयं स्थिर, अचल एवं स्वेच्छा से चालित होता है। लाइबनीज ने भी इस युक्ति का समर्थन किया है।

11.2.3 मूल्यांकन

कार्य-कारण युक्ति के द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने का प्रयास असफल प्रयास है, क्योंकि इस युक्ति के द्वारा कारण के रूप में ईश्वर को पूर्णतः अस्तित्ववान दिखाया गया है, जब कार्य के रूप में इस जगत्

को वास्तव में अस्तित्वहीन बताया गया है। यह कारणता सिद्धांत का खंडन करती है, क्योंकि कारणता सिद्धांत एक वैज्ञानिक सिद्धांत है और इसमें कार्य और कारण को समान दृष्टि से देखा जाता है।

इस युक्ति की दूसरी कठिनाई यह है कि ईश्वर को इस विश्व की व्याख्या करने के सिलसिले में कारणों की श्रृंखला में आदि कारण माना गया है। ऐसा अनवस्था दोष से बचने के लिए किया गया है। किन्तु कारणों की अनन्त श्रृंखला को अन्त करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारणों की अनवरत श्रृंखला का प्रारम्भ विन्दु कोई नहीं है, ऐसा भी माना जा सकता है।

डेविड ह्यूम ने कार्य-कारण युक्ति की आलोचना करते हुए बताया है कि कार्य-कारण के बीच आवश्यक संबंध अनुभव द्वारा नहीं होता है। इसलिए कारणता के सिद्धांत पर ईश्वर की अनिवार्य सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हम विश्व को अस्तित्ववान और अस्तित्वहीन दोनों सोच सकते हैं, उसी प्रकार ईश्वर को अस्तित्ववान एवं अस्तित्वहीन दोनों ही मान सकते हैं। इस युक्ति के द्वारा ईश्वर की अनिवार्य सत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती। विश्वमूलक प्रमाण इस जगत् को कार्य प्रमाणित करके ईश्वर को इसका अनिवार्य कारण मानता है। किन्तु काँट इस युक्ति का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि कार्य-कारण संबंध व्यावहारिक जगत पर लागू किया जा सकता है किन्तु इस कार्यकारण संबंध को ईश्वर पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर हमारे अनुभव से परे है। जिस नियम को हम अनुभवजन्य जगत पर लागू करते हैं, उसे अनुभवातीत ईश्वर की सत्ता पर लागू नहीं किया जा सकता।

रसेल ने भी विश्व मूलक प्रमाण का खंडन किया है। उनका कहना है कि इस युक्ति में ईश्वर की सत्ता मात्र अनवस्था दोष से बचने के लिये मान लिया गया है। कार्य-कारण की श्रृंखला क्यूँ ईश्वर पर ही खत्म कर देनी चाहिए? कार्य-कारण की श्रृंखला को अनन्त श्रृँखला मानने में कोई आपत्ति नहीं है और ख्वार-म-ख्वार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विश्व मूलक प्रमाण की मान्यता है कि जगत् आपातित या आकस्मिक है। विश्व के विभिन्न पदार्थ आकस्मिक हो सकते हैं, किन्तु इस आधार पर पूरे विश्व को आपातित या आकस्मिक मानना युक्ति संगत नहीं है। जो बातें अंश के लिए सत्य हैं वह जरूरी नहीं कि सम्पूर्ण के लिए भी सत्य हों। पूर्ण रूप से विश्व आकस्मिक नहीं भी हो सकता है।

जॉन हास्पर्स ने भी विश्वमूलक प्रमाण के विरुद्ध आपत्ति उठायी है। उनका कहना है कि यदि सभी पदार्थों का कारण अवश्य होता है और इस विश्व का कारण ईश्वर है तो ईश्वर का भी कारण अवश्य होना चाहिए। जिस प्रश्न को हम पूरे विश्व के लिए उठाते हैं, उसे ईश्वर के संबंध में भी उठाना चाहिए।

प्रोफेसर केयर्ड ने भी विश्वमूलक प्रमाण की आलोचना करते हुए कहा है कि यह युक्ति अनन्त ईश्वर को प्रमाणित करने का प्रयास तो करता है, किन्तु 'अनन्तता' का प्रयोग गलत रूप में करता है। अनन्तता की धारणा में सीमितता अन्तर्भुक्षा रहती है। किन्तु विश्वमूलक युक्ति अनन्तता को सीमितता का निषेध के रूप में ग्रहण करती है जो गलत है। जो अनन्तता सीमा का निषेध करे, वह सच्चे अर्थ में अनन्त नहीं हो सकता।

प्रोफेसर केयर्ड विश्वमूलक युक्ति को धर्म के लिये उपयुक्त नहीं मानते। धर्म उपासक और उपास्य के संबंध पर अवस्थित होता है। ईश्वर उपास्य है और उपासक एक सीमित प्राणी होता है। यदि अनन्त सत्ता में सीमित्त सत्ताओं का निषेध हो जाता है तो धार्मिक भावना का भी निषेध हो जाता है। सीमित प्राणी के अभाव में ईश्वर की उपासना कौन करेगा? धर्म का तब कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

11.3 सारांश

विश्वमूलक युक्ति के दो रूप हैं : कार्य कारण युक्ति एवं विश्व के आकस्मिकता के आधार पर दी गयी विश्वमूलक युक्ति। इन दोनों प्रकार की युक्तियों का समर्थन प्लेटो, अरस्तू, थॉमस एक्वीनस, मार्टिन्यु, फ्लिंट और

अनेक दार्शनिकों ने किया है। थॉमस एक्वीनस ने दोनों प्रकार की युक्तियों को तार्किक ढंग से रखा है। हर घटना का कारण होता है। किसी भी घटना का कारण उस कारण का पुनः कारण एवं फिर उस कारण का कारण इस प्रकार कारणों की अनन्त शृंखला बन जाती है। इस अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर को आदि कारण मान लिया जाता है। विश्वमूलक प्रमाण में इस विश्व को आकस्मिक बताया गया है, आकस्मिक वह है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो अर्थात् उसका अस्तित्व अन्य पदार्थों पर निर्भर करता है। इस आकस्मिक विश्व का आधार कोई स्वतंत्र सत्ता जिसका अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर न करे, जो सभी वस्तुओं का आधार हो एवं जो स्वयंभू हो अर्थात् ईश्वर ही अनिवार्य अनन्त सत्ता है। इस युक्ति के गुण एवं दोष दोनों हैं। ह्यूम, कांट, रसेल और केयर्ड ने इस युक्ति के विरुद्ध कई जोरदार आपत्तियाँ उठाई हैं।

11.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

आकस्मिक = जिसका स्वतंत्र अस्तित्त्व न हो।

जिसके होने और न होने की दोनों प्रकार की संभावना हो।

कारणता = कारण और कार्य की व्यापकता का विश्वास

11.5 अभ्यास के प्रश्न

11.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) कार्य कारण युक्ति प्रमाणित करता है

(क) कारण का अस्तित्व

(ख) कार्य-कारण संबंध का अस्तित्व

(ग) प्रयोजनकर्त्ता के रूप में ईश्वर

(घ) आदिकारण के रूप में ईश्वर

उत्तर – (घ)

(2) विश्वमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करता है

(क) विश्व के आपातित या आकस्मिक स्वरूप से

(ख) विश्व के प्रयोजनात्मक स्वरूप के आधार पर

(ग) विश्व के परिवर्तनीय स्वरूप के आधार पर

(घ) विश्व की सृष्टि के आधार पर

उत्तर – (क)

11.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये कार्य-कारण युक्ति की व्याख्या करें।

उत्तर – 11.2.1

2. ईश्वर की सत्ता के लिए विश्वमूलक प्रमाण की व्याख्या करें।

उत्तर – 11.2.2

11.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विश्व मूलक प्रमाण की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करें।

उत्तर – 11.2.2, 11.2.3

11.6 प्रस्तावित पाठ

1. जॉन हिक : **फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
2. केयर्ड : **ऐन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
3. फ्लिंट : **थीज्म**
4. जॉन हास्पर्स : **ऐन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसोफिकल एनेलायसिस**

◆◆◆

इकाई 12

ईश्वर-अस्तित्व हेतु तात्विक प्रमाण

पाठ-संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 विषय प्रवेश
12.2 मुख्य विषय
  12.2.1 ईश्वर के अस्तित्व के लिये तात्विक युक्ति
  12.2.2 समालोचना
12.3 सारांश
12.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
12.5 अभ्यास के प्रश्न
  12.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
  12.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
  12.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
12.6 प्रस्तावित पाठ

12.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य विद्यार्थियों को ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए तात्विक युक्ति से परिचय कराना और इस प्रमाण के विरुद्ध दी गई आपत्तियों से अवगत कराना है।

12.1 विषय प्रवेश

ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए दो प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं (i) अनुभव जन्य प्रमाण और (ii) अनुभव निरपेक्ष प्रमाण। तात्विक युक्ति अनुभव-निरपेक्ष प्रमाण है। इस युक्ति में ईश्वर के विचार या बोध मात्र से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की जाती है। हमारे मन में ईश्वर की पूर्णता की अनूठी धारणा है और इसी धारणा के आधार पर ईश्वर की सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

12.2 मुख्य विषय

ईश्वर की धारणा से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करना ही सत्तामूलक प्रमाण का प्राण है। विभिन्न विचारकों ने इस युक्ति को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है। निरपेक्ष रूप से एक पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर की धारणा

हमारे मन में है इससे यह प्रमाणित होता है कि वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है। अगर यह अस्तित्वान न हो तो पूर्ण सत्ता नहीं कहला सकती क्योंकि इसमें अस्तित्व का अभाव हो जायगा। अत: यदि पूर्ण सत्ता का विचार सत्य है तो इसका अस्तित्व भी अवश्य होगा। इस युक्ति को विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।

12.2.1 ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए तात्विक युक्ति

प्लेटो (427 B.C. से 347 B. C.)

प्लेटो, सर्वप्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने प्रत्ययों (Ideas) को चरम सत्ता स्वीकार किया। उनके चिंतन में तात्विक युक्ति की प्रथम झलक मिलती है। उनके अनुसार ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ वास्तविक सत्ता नहीं हैं क्योंकि वे अस्थायी हैं और अपने अस्तित्व के लिए ज्ञाता पर आश्रित हैं। इसलिए उन्हें चरम सत्ता नहीं माना जा सकता। गौ (Cows) अनेक हैं किन्तु गौ का प्रत्यय एक है। गौवों का जन्म होगा, उनकी मृत्यु भी होगी किन्तु गोत्व (Cowhood) प्रत्यय सदा रहेगा। इसी प्रकार प्रत्यय अनेक हैं। वास्तव में जितने भी प्रत्यय हैं, वे व्यवस्थित रूप में पाये जाते हैं। कम व्यापक प्रत्यय आधार में, उससे अधिक व्यापक प्रत्यय मध्य में और अत्यन्त व्यापक प्रत्यय चोटी पर रहते हैं। इस निम्नोच्च क्रमिक स्तूपाकार (hierarchical Pyramid) प्रत्ययों में Idea of the Good का प्रत्यय चोटी पर रहता है और सभी प्रत्यय इसकी ओर आकृष्ट होते हैं। प्लेटो के लिए Idea of the Good प्रत्यय ही ईश्वर है। अब यदि प्रत्यय सत्य है, तात्विक सत् हो तो प्रत्ययों का प्रत्यय अर्थात् ईश्वर पूर्ण सत् तत्त्व होगा अर्थात् तात्विक सत् होगा। अत: प्लेटो ने ईश्वर के अस्तित्व को Supreme Idea रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया है।

प्लेटो के बाद अन्सेल्म ने सत्तामूलक प्रमाण को क्लासिकल या अत्युत्तम रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। अन्सेल्म ने एकेश्वरवादी धारणा पर ध्यान केन्द्रित करते हुए बताया है कि ईश्वर वह सत्ता है जिससे बड़ी कोई भी सत्ता का विचार नहीं हो सकता। यहाँ 'बड़ा' का तात्पर्य आकार में बड़ा नहीं, बल्कि सबसे अधिक पूर्ण सत्ता है। अनसेल्म ईश्वर को इतना पूर्ण सत्ता मानते हैं कि उससे अधिक पूर्ण सत्ता का विचार ही नहीं हो सकता। उनके अनुसार ईश्वर वह पूर्ण सत्ता है जिसका अनस्तित्व सोचा ही नहीं जा सकता। फिर उन्होंने बताया कि पूर्ण सत्ता वह है, जिससे उच्चत्तर कोई अन्य सत्ता नहीं हो। पूर्ण सत्ता विचार में हो, या विचार एवं तथ्य दोनों में हो सकती है। यदि वह केवल विचार में हो, तो वह पूर्ण सत्ता नहीं हो सकती, क्योंकि इसकी अपेक्षा वह सत्ता जो विचार एवं यथार्थ दोनों में हो, उच्चत्तर मानी जायगी। इसलिए उच्चत्तम सत्ता या पूर्ण सत्ता वह है जो विचार और यथार्थ (तथ्य में) दोनों में पाई जाती है। इसलिये वास्तविकता ईश्वर प्रत्यय का सार गुण है अर्थात् ईश्वर प्रत्यय का तत्व ही है उसका 'अस्तित्व'।

अन्सेल्म ने केवल ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध किया, बल्कि उसका अनिवार्य अस्तित्व भी प्रमाणित किया है। ईश्वर को इस प्रकार परिभाषित किया जात है कि उसके अनस्तित्व की कल्पना करना ही असम्भव है। जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व हो, अनिवार्य अस्तित्व उसी का हो सकता है। चूँकि ईश्वर अनन्तरूप से पूर्ण है, वह किसी भी प्रकार सीमित नहीं है, इसलिए उसके अनस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आधुनिक युग में देकार्त ने अन्सेल्म की युक्ति को थोड़ा परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है। जो बिल्कुल पूर्ण है, उसका एक गुण अस्तित्व अवश्य होगा। देकार्त के अनुसार जिस प्रकार त्रिभुज की परिभाषा में उसके तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होंगे, सम्मिलित है, उसी प्रकार ईश्वर की पूर्णता के विचार में उसका अस्तित्ववान होना निहित है। वह सत्ता जिसे हम निरपेक्ष रूप से बिल्कुल पूर्ण मानते हैं, यदि वह वास्तव में अस्तित्ववान न हो, तो उसमें एक आवश्यक गुण का अभाव हो जायगा अर्थात् वह पूर्ण सत्ता नहीं हो सकता। देकार्त की तात्विक युक्ति में ईश्वर की परिभाषा में अस्तित्व का विधान होना अनिवार्य है।

कुछ लोगों की दृष्टि में देकार्त द्वारा दी गई तात्विक युक्ति अन्सेल्म की नकल है। यह एक गलत धारणा है। अन्सेल्म के लिये ईश्वर की सत्ता इसलिए प्रमाणित की जाती है क्योंकि मानव को ईश्वर की धारणा है, मानव के मन में ईश्वर का विचार है। किन्तु देकार्त के लिये मानव के मन में ईश्वर की धारणा इसलिये है कि ईश्वर का अस्तित्व है। अन्सेल्म की युक्ति में ईश्वर का अस्तित्व मानव के ईश्वर की धारणा पर निर्भर करता है और देकार्त की युक्ति में मानव के मन में ईश्वर की धारणा ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व पर निर्भर करता है। ईश्वर की परिभाषा जो देकार्त ने दी है वह अन्सेल्म द्वारा दी गई ईश्वर की परिभाषा से भिन्न है। देकार्त के लिए ईश्वर सर्वोत्कृष्ट रूप से सर्वप्रकार से पूर्ण सत्ता है। अन्सेल्म के लिये ईश्वर वह सत्ता है जिससे बड़ी अन्य कोई सत्ता नहीं हो सकती।

देकार्त ने तात्विक युक्ति को एक दूसरे प्रकार से भी प्रतिपादित किया है। एक अनन्त, पूर्ण सत्ता का प्रत्यय हमारे मन में है। कोई ऐसी सत्ता अवश्य होगी जिसने हमारे मन में इस प्रकार का प्रत्यय अंकित किया होगा। वह सत्ता कोई सीमित, अपूर्ण सत्ता नहीं हो सकती, क्योंकि जो स्वयं अपूर्ण एवं सीमित है, वह असीम एवं पूर्ण सत्ता को प्रत्यय किस प्रकार अंकित कर सकती है? अतः एक अनन्त, पूर्ण सत्ता ही मेरे मन में इस प्रकार का प्रत्यय अंकित कर सकती है। अर्थात् अनन्त, पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर का वास्तविक अस्तित्व है।

स्पिनोजा ने भी ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये तात्विक युक्ति का सहारा लिया है। स्पिनोजा के लिये अनन्त द्रव्य की धारणा ही ईश्वर की धारणा है जो स्पष्ट एवं सुस्पष्ट है। अस्तित्व ईश्वर के अनन्त गुणों में एक है। यदि ईश्वर में अस्तित्व का गुण न हो, ईश्वर इस गुण के अभाव के कारण पूर्ण नहीं होगा। इसलिये अनन्त द्रव्य के रूप में ईश्वर में अस्तित्व का गुण निहित है।

लाईबनीज भी ईश्वर की तात्विक युक्ति का समर्थन करता है। लाईबनीज के लिए प्रत्येक मोनड में दो विशेषताएँ संभावना और वास्तविकता की होती है। जो मोनड जितना वास्तविक होता है वह मोनड उतना ही उच्च होता है और उसमें संभावना की मात्रा उतनी ही कम होती है। मोनड अनेक हैं। विभिन्न मोनड के क्रम में सर्वोच्च मोनड Actus Purus होता है अर्थात् शुद्ध वास्तविकता से पूर्ण अर्थात् ईश्वर है। वह पूर्णतः सक्रिय है। संभावना के आधार पर लाईबनीज ने ईश्वर की वास्तविकता सिद्ध की है।

हिगेल ने भी ईश्वर की सत्ता के लिये दी गयी तात्विक युक्ति का समर्थन किया है। साधारण पदार्थों की सत्ता हम उनके विचार से नहीं सिद्ध कर सकते। किन्तु ईश्वर की धारणा अपने में अनूठी धारणा है और इसकी सत्ता विचार से प्रमाणित होती है। हिगेल ने इस युक्ति को निम्नलिखित शब्दों में रखा है ''वैयक्तिक आत्मचेतना की पूर्व मान्यता व्यापक-आत्मचेतना है और इसलिए व्यापक आत्मचेतना अपने अनिवार्य अस्तित्व या सत्ता का प्रमाण स्वयं है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिकों ने ईश्वर विषयक-विचार मात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है।

12.2.2 समालोचना

ईश्वर को प्रमाणित करने की तार्किक युक्ति की विभिन्न दृष्टि से आलोचना हुई है। सर्वप्रथम अन्सेल्म के समकालीन गौनिलों ने इस युक्ति का खंडन किया। ईश्वर की पूर्णता का विचार ईश्वर की सत्ता के विचार को सिद्ध करता है। उन्होंने बताया कि यदि अनसेल्म की तर्क प्रक्रिया को मान लें तो अन्य क्षेत्रों में असंभव निष्कर्ष निकाले जायेंगे। उन्होंने तात्विक युक्ति के समानान्तर युक्ति के आधार पर एक सबसे अधिक पूर्ण प्राय द्वीप का निष्कर्ष निकाला जो असंभव है। एक पूर्ण प्रायद्वीप के विचार के आधार पर अन्सेल्म के सिद्धांत के आधार पर कह सकते हैं जबतक वास्तविक अस्तित्व नहीं हो, तब इसकी अवधारणा एक पूर्ण प्रायद्वीप के रूप में नहीं की जा सकती। अन्सेलम का उत्तर होगा कि ईश्वर के विचार की तुलना में 'बिल्कुल पूर्ण प्रायद्वीप' के विचार में जो कमी दिखती है वह 'अनिवार्य अस्तित्व का है। प्रायद्वीप इस आपातित या आकस्मिक जगत् का

एक भाग है और जब तक इस जगत का भाग रहेगा तब तक यह जगत् की अवधारणा पर निर्भर रहेगा। अर्थात् एक बिल्कुल पूर्ण प्रायद्वीप का अस्तित्व होना या न होना दोनों ही सोचा जा सकता है, किन्तु ईश्वर की धारणा के संबंध में ऐसी बात नहीं है। ईश्वर की पूर्णता स्वतंत्र एवं अनिवार्य पूर्णता है, उसके होने और न होने की बात, उसके अस्तित्व एवं अनस्तित्व दोनों का विचार हो ही नहीं सकता।

देर्कात द्वारा दी गई तात्विक युक्ति की आलोचना कांट ने की। देकार्त के द्वारा दी गई तात्विक युक्ति का दावा है ईश्वर की परिभाषा में अस्तित्व का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार त्रिभुज की परिभाषा में उसके तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होना अनिवार्य है, उसी प्रकार सबसे अधिक पूर्ण सत्तावान ईश्वर में उसका अस्तित्व होना अनिवार्य है। जिस प्रकार बिना उपरोक्त विशेषताओं के त्रिभुज, त्रिभुज नहीं हो सकता, उसी प्रकार, अस्तित्व के बिना ईश्वर, ईश्वर नहीं हो सकता। अस्तित्व वह अनिवार्य सार गुण है जिसके बिना कोई भी सत्ता अनन्त रूप से पूर्ण नहीं हो सकती।

कांट ने देकार्त की उस मूल मान्यता को ही खंडित किया, जिस पर देकार्त की तात्विक युक्ति टिकी थी। अस्तित्व वह विधेय है जो कोई भी पदार्थ ग्रहण कर सकता है या नहीं भी कर सकता है। उनके अनुसार किसी भी वस्तु या विशिष्ट वस्तु में अस्तित्व के होने से उस वस्तु में कुछ जुड़ नहीं जाता है। कांट का कहना है कि ''यदि मेरे मन में बिल्कुल स्पष्ट एवं परिस्पष्ट विचार या प्रत्यय हो कि मेरी जेब में सौ डालर है तो इससे मेरी जेब में डालर वास्तव में नहीं आ जायगा। विचार मात्र से वस्तु की वास्तविकता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार के तर्क का उत्तर देते हुए देकार्त का कहना है कि 'जिस प्रकार पर्वत के विचार या प्रत्यय के साथ घाटी का प्रत्यय अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है, उसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय के साथ अनिवार्य रूप से उसका अस्तित्व भी जुड़ा रहता है। जब हम अपनी जेब में सौ डालर के बारे में सोचते हैं तो हम अपनी जेब में डालर का होना और न होना दोनों ही सोच सकते हैं। किन्तु हम बिना घाटी के पर्वत के बारे में नहीं सोच सकते। इसी प्रकार बिना अस्तित्व के ईश्वर की पूर्णता के बारे में नहीं सोच सकते हैं।

इस युक्ति के विरुद्ध एक और आपत्ति उठाई जाती है कि यह युक्ति ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के पहले ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेती है। तात्त्विक युक्ति ईश्वर की ऐसी धारणा बनाती है जिसमें उसकी सत्ता निहित है और तब उस धारणा के विश्लेषण के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है। इस युक्ति में आत्माश्रय दोष (Petitio Principii) है। विभिन्न दार्शनिक भी इस युक्ति से आकर्षित होकर इस युक्ति की चर्चा करते रहे हैं।

12.3 सारांश

तात्विक युक्ति ईश्वर की अवधारणा का विश्लेषण कर ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करती है। पुरातन युग में इस युक्ति का प्रतिपादन प्लेटो ने अपने ढंग से किया था। मध्ययुग में अन्सेल्म ने इस युक्ति को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक युग में देकार्त ने इसकी पुनर्व्याख्या की। समकालीन युग में हिगेल, केयर्ड आदि मनीषियों ने इस युक्ति का समर्थन अपने-अपने ढंग से किया। ईश्वर-विषयक ज्ञान से उसकी अनिवार्य सत्ता पृथक नहीं की जा सकती। ऐसा मत सामान्यतः तात्विक युक्ति अपनाने वालों की है। ईश्वर विषयक ज्ञान मात्र से उसकी सत्ता सिद्ध होती है। इस मत का खंडन करने वालों में गैनिको एवं कांट का नाम लिया जा सकता है। देकार्त ने उनकी आपत्तियों का अपने ढंग से उत्तर देने का भी प्रयास किया है।

12.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

तत्त्व मीमांसा = परम तत्त्व का ज्ञान या परम सत्ता का अध्ययन करना। सत्ता मूलक प्रमाण ईश्वर को परम सत्ता मानकर उसके वास्तविक अस्तित्व को मानव मन में ईश्वर की अवधारणा के आधार पर प्रमाणित करता है।

12.5 अभ्यास के प्रश्न

12.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) तात्विक युक्ति ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करती है

(क) ईश्वर की प्रत्यय के आधार पर

(ख) जगत् की सीमितता के आधार पर

(ग) जगत् के आकस्मिकता के आधार पर

(घ) सत्ता के अनन्तता के आधार पर

उत्तर – (क)

(2) तात्विक युक्ति का प्रतिपादन

(क) प्लेटो ने किया

(ख) अन्सेल्म ने किया

(ग) देकार्त ने किया

(घ) उपरोक्त सबों ने किया।

उत्तर – (घ)

12.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. देकार्त ने किस प्रकार तात्विक युक्ति की व्याख्या की?

उत्तर – 12.2.1

2. प्लेटो ने किस प्रकार तात्विक युक्ति की व्याख्या की?

उत्तर – 12.2.1

12.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये तात्विक युक्ति की विवेचना करें।

उत्तर – 12.2.1, 12.2.2

12.6 प्रस्तावित पाठ

1.	जॉन हिक	:	**फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
2.	जॉन केयर्ड	:	**द फिलॉसफी ऑफ रिंलिजन**
3.	वाई० मसीह	:	**सामान्य धर्म दर्शन**
4.	हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा	:	**धर्मदर्शन की रूपरेखा**

◆◆◆

इकाई 13

ईश्वर-अस्तित्व हेतु प्रयोजनात्मक युक्ति

पाठ-संरचना

13.0 उद्देश्य

13.1 विषय प्रवेश

13.2 मुख्य विषय

13.2.1 प्रयोजनात्मक युक्ति की व्याख्या

13.2.2 प्रयोजनात्मक युक्ति का मूल्यांकन

13.3 सारांश

13.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

13.5 अभ्यास के प्रश्न

13.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

13.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

13.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

13.6 प्रस्तावित पाठ

13.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिये प्रयोजनात्मक युक्ति की व्याख्या करना है एवं इस प्रमाण का मूल्यांकन भी करना है।

13.1 विषय प्रवेश

ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए विभिन्न परम्परागत युक्तियों में प्रयोजनात्मक युक्ति का विशिष्ट स्थान है। प्रयोजनात्मक युक्ति को आंग्ल भाषा में Teleological Proof कहा जाता है। Teleology ग्रीक शब्द Teleos से निष्पन्न है जिसका अर्थ उद्देश्य या प्रयोजन होता है। इसलिए इस प्रमाण को उद्देश्य-मूलक या प्रयोजन मूलक प्रमाण कहा जाता है। इस विश्व में सभी स्थानों में क्रम, व्यवस्था, साधन एवं साध्य में मेल परिलक्षित होता है। विश्व में व्याप्त व्यवस्था अपने-आप नहीं हो सकती और न यह व्यवस्था आकस्मिक हो सकती है। इस विश्व को योजनाबद्ध बनाने वाला अवश्य कोई महान् शक्ति वाला अत्यधिक बुद्धिमान सत्ता अर्थात् ईश्वर होगा। यही प्रयोजनात्मक युक्ति का सार है।

13.2 मुख्य विषय

विश्व में नियमितता देखने को मिलती है। नक्षत्रों की गति में व्यवस्था, ऋतु परिवर्तन में व्यवस्था, पृथ्वी पर बसे विभिन्न पशुओं में वातावरण के अनुकूल परिवर्तन, सूर्य का प्रति दिन पूरब में उदय होना एवं पश्चिम में अस्त होना आदि से प्रमाणित होता है कि विश्व को योजनापूर्ण बनाने वाली कोई महान शक्तिशाली एवं बुद्धिमान सत्ता है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। प्रयोजनात्मक युक्ति को डिजाइन आर्गुमेंट भी कहते हैं। यह अनुभव जन्य प्रमाण है। इस प्रमाण का प्रतिपादन प्लेटो, एक्वीनस, बेकन आदि ने किया है। किन्तु विलियम पेली ने इस युक्ति का बहुत ही आकर्षक ढंग से प्रतिपादन किया है।

13.2.1 प्रयोजनात्मक युक्ति अथवा डिजाइन आर्गुमेंट की व्याख्या

विलियम पेली ने घड़ी का दृष्टान्त देकर प्रयोजनात्मक तर्क को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यदि किसी व्यक्ति को किसी निर्जन स्थान या रेगिस्तान में एक घड़ी मिल जाती है तो वह ऐसा नहीं सोचेगा कि इस निर्जन स्थान में जिस प्रकार प्रकृति की क्रिया-कलापों के कारण पहाड़, नदी, जंगल आदि हैं उसी प्रकार यहाँ घड़ी भी रहा होगा। घड़ी समय-सूचक यंत्र है। इसके अन्दर कई छोटे-छोटे यंत्र हैं, स्प्रींग, एक्सल आदि इस प्रकार एक दूसरे के साथ समयोजित हैं कि वे ठीक-ठीक समय बताते हैं। घड़ी को बनाने वाला एक विलक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति अवश्य होगा। यह विश्व भी एक विशाल यंत्र है, जिस तरह घड़ी एक यंत्र है। इस विश्वरूपी यंत्र के अन्दर भी कई छोटे-छोटे यंत्र हैं जो सुव्यवस्थित ढंग से अपना कार्य निष्पादित करते हैं। जिस प्रकार घड़ी जैसे छोटे यंत्र की व्याख्या के लिए उस घड़ी के निर्माता की कल्पना करते हैं जिन्होंने घड़ी की रचना समय जानने के उद्देश्य से की। ठीक उसी प्रकार विश्व की जटिलता, विशालता तथा अभियोजन की व्याख्या के लिए किसी महान बुद्धिमान, शक्तिशाली शिल्पकार के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। जिस प्रकार आँख का निर्माण देखने के लिए हुआ है, उसी प्रकार इस विश्व का निर्माण भी ईश्वर रूपी सत्ता के प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए हुआ है।

जेम्स मार्टिन्यु भी पेली की तार्किक प्रक्रिया से सहमत हैं और उनकी भी दृष्टि में विश्व स्वतः उत्पन्न नहीं हुआ है उसका भी कोई रचयिता अवश्य है जिसके उद्देश्य की पूर्त्ति इस विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त व्यवस्था द्वारा हुई है। विश्व के ग्रह-नक्षत्रों की गति इतनी व्यवस्थित है कि ज्योतिषगण सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी पहले ही कर देते हैं। इस विश्व में एक नियमितता है और यह नियमितता विश्व में व्यवस्था और प्रयोजन की ओर संकेत करते हैं। मार्टिन्यु का कहना है कि यदि हम जीवों के अंग प्रत्यंगों पर ध्यान देते हैं तो हमें उनके बीच अभियोजन क्षमता को देख कर आश्चर्य होता है। प्रत्येक जीव के अंगों का चुनाव उनकी परिस्थिति के अनुसार हुआ है। जल, आकाश और पृथ्वी पर रहने वाले जीवों की श्वास-प्रणाली की रचना उनकी परिस्थिति के अनुकूल हुई है। हिंसक जीवों के तेज दाँत, तेज पंजे का निर्माण शिकार पकड़ने और उन्हें चीड़-फाड़ के लिए हुआ है। उनकी अतड़ियाँ माँस पचाने के योग्य होती हैं। पक्षियों को पंख होते हैं ताकि वे उड़ सकें। मछलियों के गिल एवं फिन इस प्रकार के होते हैं कि वे पानी में घुले हुए हवा से श्वास ले सकें। जीवों के बीच भी अभियोजन की क्षमता है उसका कारण ईश्वर है जिन्होंने इन जीवों की रचना उद्देश्य सिद्धि के लिये किया है।

संत एक्वीनस ने भी ईश्वर के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिये पाँच प्रमाणों का उल्लेख किया है, उनमें प्रयोजनात्माक प्रमाण भी एक है। एक्वीनस ने बताया कि विश्व में अबोध वस्तुएँ हैं वे किसी न किसी रूप में प्रयोजन की पूर्त्ति करते हैं। चूँकि प्राकृतिक वस्तुएँ अबोध, ज्ञान शून्य हैं इसलिये उनका कोई अपना उद्देश्य नहीं हो सकता। ऐसा लगता है कि संसार के अबोध वस्तुओं का कोई नियामक है जो उनके द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्त्ति कर रहा है। एक चेतन, बुद्धिमान सत्ता अवश्य है जो अबोध वस्तुओं की दिशा का निर्देशन कर रहा है। वही सत्ता अबोध वस्तुओं की दिशा का निर्देशन कर रहा है। उसी सत्ता को ईश्वर कहते हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार प्रयोजनात्मक युक्ति, विश्वमूलक युक्ति का एक विस्तार है। विश्वमूलक प्रमाण विश्व को एक कार्य माना जाता है, जिसके कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जाती है। प्रयोजनात्मक तर्क विश्वमूलक युक्ति की तरह ही विश्व में व्याप्त व्यवस्था, अभियोजन, उद्देश्य की अनुभूति के आधार पर विश्व के नियोजक के रूप में ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करता है। यही कारण है कि प्रयोजनात्मक युक्ति को विश्वमूलक युक्ति के अन्तर्गत रखा जाता है। दोनों प्रकार की युक्तियाँ अनुभव पर आश्रित हैं। इसलिये प्रयोजनात्मक युक्ति को विश्वमूलक युक्ति का विस्तार माना जा सकता है।

प्रयोजनात्मक युक्ति बहुत ही सरल एवं आकर्षक युक्ति है। जिस प्रकार की व्यवस्था, अभियोजन, इस विश्व में हम पाते हैं वह किसी सीमित सत्ता का काम नहीं हो सकता। हमें एक बुद्धिमान, अनन्त शक्ति से युक्त एक बहुत ही प्रबुद्ध सत्ता के रूप में ईश्वर को मानना पड़ेगा, जिसने इस प्रकार की विश्व की रचना की है। सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक डार्विन ने बताया है कि विभिन्न जीवों में आकस्मिक परिवर्तन होते हैं और जब ये परिवर्तन अनुकूल होते हैं तो जीवन संग्राम में वे सफल होकर बच जाते हैं। अन्यथा उनका विनाश हो जाता है। एफ० आर० टेनेन्ट ने डार्विन के सिद्धांत का सूक्ष्म परीक्षण किया है। उनके अनुसार हमें पूरे विश्व के पीछे जो मास्टर प्लान है उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, तभी विश्वास होगा कि यह विश्व पूर्णतः सुनियोजित व्यवस्था है और इसका नियोजक निश्चित रूप से सर्वाधिक बुद्धिमान सत्ता अर्थात् ईश्वर है।

13.2.2 प्रयोजनात्मक युक्ति की समीक्षा

पेली द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनात्मक युक्ति का डेविड ह्यूम ने कट्टर रूप से खंडन किया है। ह्यूम के अनुसार जिस व्यवस्था, योजना की बात पेली करते हैं, वह इस सीमित जगत् के लिए सत्य है। इस सीमित जगत् का कारण कोई सीमित सत्ता ही हो सकती है। अनन्त एवं असीम ईश्वर नहीं। अतः प्रयोजनात्मक युक्ति कार्य-कारण नियम की अवहेलना करता है।

प्रयोजनात्मक युक्ति में पेली घड़ी का सादृश्य इस विश्व से करते हैं, जिस प्रकार घड़ी विभिन्न यन्त्रों, स्प्रिंग, एक्सल आदि से बनी है, उसी प्रकार यह विश्व भी एक विशाल यन्त्र है जिसमें कई छोटे यंत्र हैं। विभिन्न यंत्रों में आपसी व्यवस्था, अभियोजन के कारण घड़ी निश्चित रूप से समय बताती है, उसी प्रकार इस विश्व में भी विभिन्न क्षेत्रों में व्यवस्था, अभियोजन आदि हैं। जिस प्रकार घड़ी को देख कर हम घड़ी के निर्माता का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार इस विश्व की व्यवस्था को देखकर एक व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर का अनुमान करते हैं। सादृश्यमूलक अनुमान पर प्रयोजनात्मक युक्ति ईश्वर का निष्कर्ष निकालता है। ह्यूम बतलाते हैं कि यह सादृश्यनुमान निर्बल है। जो बातें अंश के लिये सत्य हो वह पूरे विश्व यानि समष्टि (whole) के लिये भी सत्य हो, यह आवश्यक नहीं हैं। फिर सादृश्यानुमान के निष्कर्ष संभाव्य होते हैं, निश्चित नहीं। अतः प्रयोजनात्मक युक्ति से निश्चित निष्कर्ष की निष्पत्ति नहीं हो सकती। पुनः घड़ी के निर्माता को हम घड़ी की रचना करते देखते हैं, किन्तु विश्व के निर्माता को किसी ने विश्व का निर्माण करते नहीं देखा। अतः विश्व के निर्माता का अनुमान महज एक कल्पना है, अनुमान नहीं। इसके अतिरिक्त जितनी व्यवस्था हम इस विश्व में देखते हैं, उससे कहीं अधिक दुर्व्यवस्था भी विश्व में व्याप्त है। भूकम्प, महामारी, बाढ़ आदि इस विश्व की दुर्व्यवस्था के द्योतक हैं।

काँट ने भी इस युक्ति का खंडन किया है। उनके अनुसार प्रयोजनात्मक युक्ति ईश्वर को एक नियोजक के रूप में प्रमाणित करता है। काँट का कहना है कि नियोजक होना तो ईश्वर को ससीम बना देता है। यह प्रमाण ईश्वर की पूर्णता, असीमता एवं अनन्तता पर कुठाराघात करता है। प्रोफेसर केयर्ड भी इस प्रमाण की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि वाह्य नियोजक के रूप में ईश्वर की प्रस्थापना करना ईश्वर की पूर्णता पर प्रश्न चिह्न लगाना है। यदि कोई मानवीय नियोजक उपादानों एवं प्राकृतिक नियमों द्वारा सीमित हो सकता है, तो ईश्वर के साथ भी ये सीमाएँ लागू हो जायंगी, यदि वह केवल वाह्य नियोजक है।

विकासवादी दृष्टिकोण से भी प्रयोजनात्मक युक्ति का महत्त्व कम हो जाता है। प्रयोजनात्मक युक्ति ईश्वर को वाह्य नियोजक प्रमाणित करती है। किन्तु विकासवाद अन्तर्भूव प्रयोजन पर बल देता है। विश्व में जो योजना व्यवस्था हम देखते हैं वह विश्व के पदार्थों की स्वतः प्रक्रिया है। विश्व के विभिन्न पदार्थ स्वतः, एक दूसरे के साथ व्यवस्थित होते रहते हैं, यह उनमें अन्तर्भूत प्रयोजन (Immanent Teleology) का परिणाम है। उन्हें किसी वाह्य नियोजक की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस प्रकार प्रयोजनात्मक युक्ति अपना अर्थ ही खो बैठती है। आधुनिक युग में हुए आविष्कार इत्यादि भी विश्व की प्राकृतिक व्याख्या करते हैं और इस प्रकार विश्व की व्याख्या के लिए किसी अतिप्राकृतिक शक्ति में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रयोजनात्मक युक्ति का आधार सादृश्यानुमान है। जिस प्रकार घड़ी रूपी यंत्र की व्याख्या के लिए एक निर्माता की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार विश्व रूपी यंत्र की व्याख्या के लिये ईश्वर की कल्पना मानवापेक्षी सादृश्यानुमान है। हम मानव का सादृश्य कर इस विश्व के रचयिता का निष्कर्ष निकालते हैं। यह मानवापेक्षी तर्क है। हम मानव के गुणों को ईश्वर पर आरोपित कर डालते हैं।

किन्तु इन दोषों के बावजूद प्रयोजनात्मक युक्ति का महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि काँट जैसे विचारक ने भी इस युक्ति को सम्मान दिया है। वे कहते हैं कि इस प्रमाण को सदा आदर के साथ उल्लेख किया जाना चाहिये, क्योंकि यह युक्ति बहुत ही लोकप्रिय युक्ति है और लोगों का विश्वास इस युक्ति पर सहज ही हो जाता है। जॉन हास्पर्स ने भी काँट के विचारों से अपनी सहमति व्यक्त की है।

13.3 सारांश

प्रयोजनात्मक युक्ति धर्म के इतिहास में सबसे अधिक लोकप्रिय एवं सर्वमान्य प्रमाण मानी जाती है। प्लेटो ने कहा है कि नक्षत्र, ग्रह-तारे इस प्रकार गतिशील हैं, मानों इन्हें कोई बुद्धिशाली सत्ता संचालित कर रही है। इस युक्ति को सशक्त रूप से विलियम पेली ने घड़ी के उदाहरण द्वारा पेश किया। फिर जेम्स मार्टिन्यु ने और एफ० आर० टेनेन्ट ने भी आधुनिक युग में इस युक्ति का प्रतिपादन किया है। विश्वमूलक प्रमाण में बताया जाता है कि विश्व एक कार्य है जिसका कारण अवश्य ही कोई अपरिमित शक्ति वाला ईश्वर होगा। विश्व को विश्वमूलक प्रमाण एवं प्रयोजन मूलक प्रमाण दोनों ही आकस्मिक नहीं मानते। प्रयोजनमूलक प्रमाण ईश्वर को इस विश्व का अपरिमित बुद्धि वाला नियोजक सिद्ध करता है। विश्वरूपी यन्त्र में इतनी जटिलता, इतनी गहनता और इतनी सूक्ष्मता दिखाई देती है कि इस विश्व को बनाने वाला अपरिमित बुद्धिवाला ही हो सकता है। अतः इस विश्व का रचयिता अपरिमित सत्ता है जिसे ईश्वर की संज्ञा हम देते हैं। पेली ने निर्जन रेगिस्तान में पायी जाने वाली घड़ी का उदाहरण देकर बताया कि कोई भी व्यक्ति इस घड़ी को रेगिस्तान में पाई जाने वाली झाड़, बालू की राशि, पत्थर या चट्टान टुकड़े जैसा प्रकृति द्वारा प्रस्तुत यंत्र नहीं मान सकता। घड़ी की सूई, स्प्रिंग, काँट आदि अपने आप उत्पन्न नहीं हो सकते। घड़ी के विभिन्न अंगों का अभियोजन इस प्रकार है कि वह समय की ठीक सूचना देती है, ठीक उसी प्रकार विश्व के संबंध में भी हम कह सकते हैं कि वह अपने आप उत्पन्न न होकर किसी अपरिचित सत्ता के नियोजन से संचालित हो रहा है। पेली के तर्क का खंडन ह्यूम एवं काँट ने किया है। जो बात किसी अंश के लिए सत्य हो, वह समष्टि के लिये भी सत्य हो, आवश्यक नहीं। सादृश्य के आधार पर यह तर्क निर्बल है, क्योंकि इससे संभावात्मक निष्कर्ष निष्पादित होता है, निश्चित निष्कर्ष नहीं।

13.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

विकासवाद : इस जगत् को ईश्वर की रचना नहीं मानता है। जगत् का वर्त्तमान जटिल स्वरूप का विकास सरलतम रूप से शनैः शनैः क्रमिक रूप में हुआ है।

13.5 अभ्यास के प्रश्न

13.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) प्रयोजन मूलक युक्ति ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करता है।

(क) ईश्वर की धारणा का विश्लेषण कर

(ख) विश्व को कार्य दिखा कर

(ग) विश्व में व्यवस्था, अभियोजन, प्रयोजन दिखा कर

(घ) बाइबिल में वर्णित विश्व की रचना का इतिहास बताकर।

उत्तर – (ग)

13.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उद्देश्य मूलक प्रमाण की व्याख्या करें।

उत्तर – 13.2.1

2. प्रयोजनमूलक युक्ति का मूल्यांकन करें।

उत्तर – 13.2.2

13.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रयोजनात्मक युक्ति द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के प्रयास की समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत करें।

उत्तर – 13.2.1, 13.2.2

13.6 प्रस्तावित पाठ

1.	जॉन हिक	:	**फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
2.	जॉन हिक	:	**आरगुमेन्ट्स फॉर दि एक्जिस्टेन्ट ऑफ गॉड**
3.	रिचार्ड स्विनबर्न	:	**दि एक्जिस्टेन्स ऑफ गॉड**
4.	डेविड ह्यूम	:	**डायलोग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलिजन**
5.	एफ० आर० टेनेन्ट	:	**फिलॉसोफिल थियोलॉजी II (अध्याय-4)**

◆◆◆

ईश्वर-अस्तित्व हेतु नैतिक युक्ति

पाठ-संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 विषय प्रवेश
14.2 मुख्य विषय
 14.2.1 कान्ट की नैतिक युक्ति
 14.2.2 रैसडल की नैतिक युक्ति
 14.2.3 नैतिक नियमों की वस्तुनिष्ठता पर आधारित नैतिक युक्ति
 14.2.4 सद्असद् विवेक पर आधारित युक्ति
14.3 सारांश
14.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
14.5 अभ्यास के प्रश्न
 14.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
 14.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
 14.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
14.6 प्रस्तावित पाठ

14.0 उद्देश्य

इस अर्थ में नैतिक युक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण युक्ति है, क्योंकि यही एक युक्ति है जो ईश्वर की सत्ता को उपासना के लिए सर्वथा उत्तम विषय प्रमाणित करती है। केवल शुद्ध, सत्संकल्पी, पवित्र शुभेच्छायुक्त ईश्वर ही उपास्य हो सकता है और नैतिक युक्ति ईश्वर के इसी स्वरूप की स्थापना करती है। विभिन्न चिन्तकों द्वारा नैतिक युक्ति विभिन्न रूपों में प्रस्तुत की गयी है। इस पाठ में हम उनमें से कतिपय मुख्य युक्तियों को ही विस्तारपूर्वक स्पष्ट करने का प्रयास कर पायेंगे।

14.1 विषय प्रवेश

मानव के स्वभाव की विशेषताओं में एक विलक्षण खूबी यह है कि मानव को 'सत्' 'असत्' का ज्ञान प्रारम्भ से ही रहता है। जब हम कहते हैं कि हमें ऐसा करना चाहिए तो हमारा तात्पर्य है कि ऐसा करना उचित है और जब कहते हैं कि 'ऐसा नहीं करना चाहिए' तो हमारा तात्पर्य है कि ऐसा करना अनुचित है। किसी भी काम को उचित या अनुचित करार करने का अर्थ यह नहीं है हमें वह पसन्द है या पसन्द नहीं है। 'उचित' एवं

'अनुचित' का एक मानक मापदंड होता है जो विषयगत या वस्तुनिष्ठ है, किसी व्यक्ति के मनोनुकूल होना नहीं है। वे विषयगत हैं, वस्तुनिष्ठ हैं क्योंकि उनका स्रोत ईश्वर है जो सब प्रकार से शुभ एवं सच्चा है। उनका स्रोत व्यक्ति या समूह की पसन्दगी, नापसन्दगी नहीं है। नैतिक युक्ति प्रयोजन मूलक युक्ति का विस्तृत रूप हैं। प्रयोजन मूलक युक्ति विश्व की व्यवस्था, प्रयोजन के आधार पर ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करती है। नैतिक युक्ति इस व्यवस्था में एक और व्यवस्था अर्थात् नैतिक व्यवस्था जोड़ देती है। इस युक्ति के अनुसार नैतिक व्यवस्था ही विश्व की एकमात्र निर्णायक पहचान है और इस नैतिक व्यवस्था का कारण ईश्वर है।

14.2 मुख्य विषय

विभिन्न रूपों में नैतिक युक्ति का दावा है मानव की नैतिक अनुभूति, विशेषकर उसका अपने साथियों के प्रति कृतज्ञता-बोध किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता की पूर्व मान्यता पर आधारित है। मूल्यों का साम्राज्य जिसका हम अन्वेषण नहीं करते हैं, बल्कि जिसे हम प्रकट करते हैं, हमारे ऊपर निर्भर नहीं करता है बल्कि उसका स्रोत ईश्वर है जो पूर्ण शुभ और सत्य है। यही दावा नैतिक युक्ति का दावा है। इमान्युएल कांट ने इस युक्ति को उत्कृष्ट रूप से स्पष्ट किया है। जॉन हेनरी न्यूमैन, रैसडल, डब्ल्यु० आर० सोर्ले इत्यादि अन्य मनीषियों ने भी इस युक्ति का समर्थन एवं अपने ढंग से व्याख्या की है। इनमें कुछ महत्वपूर्ण नैतिक युक्तियों का यहाँ उल्लेख करेंगे।

14.2.1 काँट द्वारा प्रस्तुत नीति-परक प्रमाण

काँट के अनुसार मानव दो विभिन्न जगत् का प्राणी है। एक ओर वह इस दृश्य जगत् का प्राणी है और दूसरी ओर वह पारमार्थिक जगत् का भी सदस्य है। दृश्य जगत का प्राणी होने के कारण वह अपनी इच्छाओं, वासनाओं एवं जरूरतों को पूरा कर सुख भोगता है। किन्तु वह पारमार्थिक जगत् का सदस्य भी है अर्थात् वह पारमार्थिक सत्ता से जुड़ा हुआ है। काँट के अनुसार दृश्य जगत् इसी पारमार्थिक सत्ता का आभास है। दृश्य जगत् का प्राणी होने के कारण वह अपनी पाशविक वृत्तियों, लालसाओं को तृप्त करता है। किन्तु पारमार्थिक आत्मा होने के कारण वह नैतिक रूप से चेतन रहता है। वह ऐसे आदेशों को प्राप्त करता है जिसकी अवहेलना वह नहीं कर सकता एवं उन आदेशों को पालन करने के लिए वह बाध्य होता है, चाहे परिणाम कुछ भी क्यूँ न हो। अपनी पामार्थिक आत्मा के आदेशों का अनुपालन कर वह पामार्थिक सत्ता से अनुप्रेरित होता है और इस बात का साक्ष्य देता है कि दृश्य जगत् का प्राणी होते हुए भी वह परम सत्ता का अनुभागी है। पारमार्थिक सत्ता के आदेशों को कान्ट 'निरपेक्ष या निरुपाधिक आदेश' (Categorical Imperative) की संज्ञा देता है। चूँकि सभी आदेश संकल्प शक्ति के द्वारा ही सम्पादित होते हैं, इसलिये नैतिक आदेशों को भी सत्संकल्प (Good will) के द्वारा ही संपादित किया जाता है। इसीलिए काँट का कहना है कि बिना सुख-दुःख का ध्यान किये, बिना कर्मों के फल की आकांक्षा के एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठता के भाव से ही निरपेक्ष आदेशों का पालन करना चाहिए। निरपेक्ष आदेशों का पालन करने वालों को सत्संकल्प को ही एकमात्र परमसत् तथा परम शुभ मानना चाहिए। काँट कहते हैं, ''एकमात्र 'सत्संकल्प' को छोड़ कर, न तो इस संसार में और न इस संसार से परे कोई भी ऐसी वस्तु सोची जा सकती है, जिसे निरपेक्ष रूप से शुभ कहा जा सकता है........सत्संकल्प अपने स्वरूप से ही शुभ है और एक रत्न की भाँति अपने प्रकाश से ही प्रकाशित (चमकता है) होता है।'' दृश्य जगत् का प्राणी होने के कारण मानव, कारण कार्य से नियंत्रित रहता है, किन्तु पारमार्थिक जीव होने का कारण वह स्वतंत्र जीव विकल्पों में स्वेच्छापूर्वक चुनाव करने वाला नैतिक हो जाता है और निरपेक्ष नैतिक आदेश प्राप्त करता है। नैतिक आदेश उसका सदा आह्वान करते हैं 'मानव, शुद्ध विवेकी और सत्संकल्पी बनो'।

अपने नीति दर्शन में काँट ने तीन बातों पर जोर दिया है। वे बातें हैं :-

(1) व्यावहारिक प्रज्ञा (Practical Reason) सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि (Theoretical Reason) से श्रेष्ठ है क्योंकि सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि दृश्य-जगत् (प्रतिभासिक जगत्) से केवल संबंधित है। नैतिकता में हम परमसत् (Noumena)रहते हैं। इसलिए सत्संकल्प की आवाज अथवा निरपेक्ष आदेश हमें परम सत्ता की तह में ले जाता है जो हर व्यक्ति की अन्तिम नियति (ultimate destiny) है।

(2) नैतिक नियम किसी व्यक्ति या वर्ग का निर्णय नहीं है। यह निर्णय सार्वभौमिक तत्वोक्ति (universal maxim) पर आधारित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए (binding) अनिवार्य है।

(3) नैतिकता और वैज्ञानिक ज्ञान दोनों एक दूसरे के विषम जातीय अर्थात् बिल्कुल भिन्न हैं। इस प्रकार कर्त्तव्यपालन (बिना किसी फल प्राप्ति की आशा के) से प्राप्त शुभ (Virtue) उस सुख से बिल्कुल भिन्न होता है जो मानव दृश्य जगत् में अपनी आकांक्षाओं एवं वासनाओं की तुष्टि से प्राप्त करता है।

शुभ का इस प्रकार कोई भी संबंध सुख से नहीं है। ये विभिन्न पक्षीय हैं। व्यावहारिक प्रज्ञा (Practical Reason) हमें सत्संकल्प रूपी सर्वोच्च शुभ प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। प्रत्येक नैतिक मानव को उसकी व्यावहारिक प्रज्ञा सम्पूर्ण शुभ की ओर अनुप्रेरित करती है जिसमें नैतिकता और सुख प्राप्ति दोनों पाई जाती है। अतः व्यावहारिक प्रज्ञा की माँग है कि शुभ और सुख दोनों का समन्वय होना चाहिए अर्थात् कर्त्तव्यनिष्ठ को सुख मिलना चाहिए। किन्तु इन दोनों का समन्वय ऐसी सर्वोत्कृष्ट सत्ता द्वारा ही हो सकती है, जिसने सम्पूर्ण विश्व को एवं मानव को ऐसी बुद्धि देकर बनाया है कि वह सम्पूर्ण शुभ प्राप्ति के लिए लगा रहे। वह सत्ता ईश्वर है। वही सत्ता यह समन्वय कर सकती है जिसमें नैतिक मूल्यों को, नियमों को समझने की क्षमता हो। दूसरे शब्दों में वह सत्ता बुद्धिमान (Intelligent) होना चाहिए। नैतिक नियम सार्वभौमिक तत्वोक्ति है इसलिए ऐसी सत्ता को शाश्वत अवश्य होना चाहिए। ऐसी सत्ता दिक् और काल की सीमा से बँधी नहीं हो सकती, अर्थात् सर्वशक्तिमान होना चाहिए। शुभ और सुख में समानुपातिक संबंध स्थापित करने वाली सत्ता का सर्वज्ञ होना भी आवश्यक है। अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परम शुभ सत्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को अभ्युपगम (Postulate) के रूप में अस्तित्ववान माना जा सकता है। इस प्रकार काँट ने ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक प्रज्ञा के अभ्युपगम के रूप में स्वीकार किया है।

14.2.2 हेस्टिंग्स रैसडल की नैतिक युक्ति

रैसडल की नैतिक युक्ति वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद पर आधारित है। यह विश्व जो कार्य-कारण नियम से व्यवस्थित है, एक नैतिक व्यवस्था भी है। हर व्यक्ति के द्वारा शुभत्व का आदर्श स्वीकृत आदर्श है और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए हर व्यक्ति को प्रयास करना चाहिए। ईश्वर को विश्व का स्रष्टा और शासक माना जा सकता है। ईश्वर उन सभी नैतिक मूल्यों का धारक माना जा सकता है जिनकी चेतना हमें होती है। और नैतिक आदर्श उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। रैसडेल ने 'सच्ची नैतिकता' को अन्य प्रकार की नैतिकता से अलग किया है और बताया है कि सच्ची नैतिकता वस्तुनिष्ठ होती है। पर क्या आदर्श को वस्तुनिष्ठ कहा जाता सकता है ? क्या हम नैतिकता, नैतिक मूल्यों एवं नियमों एवं आदर्श को ईश्वर या सूपरमाइन्ड पर आधारित मान सकते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर अपनी विशिष्ट नैतिकयुक्ति में देने का प्रयास उन्होंने किया है।

निरपेक्ष नैतिक नियम या नैतिक आदर्श किसी भौतिक पदार्थ या किसी के मन में अवस्थित नहीं रह सकता। यदि नैतिकता की निरपेक्षता मान ली जाय तो मानव चेतना के आधार पर सच्ची नैतिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि मानव नैतिकता केवल सीमित रूप में दिखती है। नैतिक आदर्श मानव चेतना से परे और अतीत प्रतीत होता है। यदि मानव या समस्त मानव जाति का विनाश हो जाय तो भी नैतिक आदर्श अक्षुण्ण रहेंगे। अतः मानव चेतना के द्वारा वस्तुनिष्ठ एवं निरपेक्ष नैतिकता की व्याख्या संभव नहीं हो सकती है। अतः नैतिक मूल्य निरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ रूप में केवल एक निरपेक्ष मानस (Absolute Mind) अर्थात् ईश्वर में ही साकार होकर वास्तविक माना जा सकता है। बिना ईश्वर को स्वीकार किये, नैतिक मूल्यों की नित्यता, निरपेक्षता तथा वस्तुनिष्ठता स्पष्ट नहीं की जा सकती।

14.2.3 नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता पर आधारित तर्क

हमलोगों को मूल्यों, नियमों एवं आदर्श की चेतना है। ये मूल्य, नैतिक नियम एवं आदर्श इसलिए वैध (Valid) नहीं हैं कि हम उन्हें सत्य मानते हैं। वे वैध और सत्य इसलिए हैं कि वे वस्तुनिष्ठ और शाश्वत हैं। इन नियमों की शाश्वत वैधता (eternal validity) किस पर आधारित है? जबतक कोई शाश्वत मन (eternal mind) न हो जिसका विचार और संकल्प इन नियमों द्वारा अभिव्यक्त होता है, तबतक इन्हें वस्तुनिष्ठ नहीं स्वीकार किया जा सकता। अतः ईश्वर के रूप में शाश्वत मन को स्वीकार करना पड़ेगा। ईश्वर का स्वरूप परम शुभ अवश्य होगा।

14.2.4 अन्तरात्मा (Conscience) की आवाज पर आधारित युक्ति

अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना करने पर यदि हमें लज्जा आवे या भय लगे या उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ने की भावना उत्पन्न हो, तो इसका अर्थ है कि कोई ऐसी सत्ता अवश्य है जिसके प्रति हम अपने कर्मों के लिए या अपने आचरण के लिए उत्तरदायी हैं जिसके सामने हमें लज्जा का अनुभव होता है जिसके प्रति हम अपनी गैर जिम्मेदार हरकत के लिए उत्तरदायी हैं....। इस प्रकार की भावना या संवेग का कारण इस दृश्य जगत् में नहीं है, बल्कि किसी ऐसी अतिप्राकृतिक शक्ति या ईश्वर में है जिसकी आवाज अन्तरात्मा में सुनाई देती है। इस प्रकार की युक्ति हम न्यूमैन की नीति मूलक-युक्ति में पाते हैं। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे सत्-असत्, सही-गलत का आभास देती है। जिस व्यक्ति का बात-विचार जितना ही शुद्ध और पवित्र होता है, उसकी अन्तरात्मा की आवाज उतनी ही शुद्ध और स्पष्ट होती है। गाँधीजी भी अन्तरात्मा की आवाज की दुहाई देते थे। अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है और वह कभी भी गलत परामर्श नहीं देती है।

14.3 सारांश

ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए नैतिक युक्ति को काँट, रैसडेल, न्यूमैन आदि कई मनीषियों ने प्रस्तुत किया है। कान्ट की युक्ति सही अर्थ में ईश्वर की सत्ता का प्रमाण नहीं है। इस युक्ति का दावा है कि जो कोई भी नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि मानता है और अपने जीवन को इन मूल्यों के अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं वे इन मूल्यों के अन्तिम स्रोत के रूप में अति मानवीय सत्ता को (जिसे धर्म ईश्वर कहता है) स्वीकार करने के लिए बाध्य है। कान्ट ने ईश्वर की सत्ता को नैतिक जीवन के अभ्युगम के रूप में स्वीकार किया है। काँट के लिए नैतिक जीवन का अर्थ व्यावहारिक प्रज्ञा के निरपेक्ष आदेशों का कर्त्तव्यनिष्ठ होकर (बिना फल पर विचार किये) पालन करना।

दूसरे रूप में नैतिक युक्ति वस्तुनिष्ठ नैतिक नियमों से तार्किक निष्कर्ष के रूप में ईश्वर को नैतिक नियमों को प्रदाता के रूप में सत्य सिद्ध करती है। नैतिक मूल्यों की वस्तुनिष्ठता के आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का भी प्रयास नैतिक युक्ति करती है।

एक अन्य रूप में अन्तरात्मा की आवाज को ईश्वर की आवाज कह कर सत्-असत्, शुभ-अशुभ का ज्ञान देने वाला प्रमाण भी नैतिक युक्ति का एक रूप है। इन सभी युक्तियों की मूल मान्यता यह है कि प्राकृतिक तथ्यों के माध्यम से, या मानवीय आवश्यकताओं, आकांक्षाओं पर आदर्शों से अथवा मानव समाज की संरचना के आधार पर नैतिक मूल्यों की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती। इनकी व्याख्या के लिए हमें ईश्वर या किसी अति प्राकृतिक शक्ति को स्वीकार करना जरूरी हो जाता है। रैशडेल की युक्ति को विशिष्ट नैतिक युक्ति इसलिए कहते हैं कि नैतिक आदर्श 'चाहिए' से संबंधित है और इसका आधार मन हो सकता है, निरपेक्ष नैतिक आदर्श का आधार कोई निरपेक्ष मनस ही हो सकता है जिससे सभी सत्ताएँ प्रसूत होती है या जो सभी सत्ताओं का आधार है।

14.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

दृश्य जगत्, आभासिक जगत् = काँट ने दृश्य जगत या आभासिक जगत एवं **परम सत्ता** (न्यूमेना) में भेद किया और बताया कि तर्क बुद्धि द्वारा जिस जगत् को हम जानते हैं वह आभासिक सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता का यह आभास मात्र है। पारमार्थिक सत्ता अज्ञात एवं अज्ञेय है। तर्कबुद्धि द्वारा उसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। मानव पारमार्थिक सत्ता का भी अनुभागी है। पारमार्थिक सत्ता का अनुभागी होने के कारण उसे नैतिक चेतना होती है, सत संकल्प का अनुभागी होता है।

14.5 अभ्यास के प्रश्न

14.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) काँट की नैतिक युक्ति प्रमाणित करती है

(क) मानव नैतिक है

(ख) ईश्वर का अस्तित्व बिना किसी संशय के प्रमाणित होता है

(ग) ईश्वर नैतिक जीवन का अभ्युपगम (postulate) है

(घ) ईश्वर इस विश्व का रचयिता है।

उत्तर – (ग)

(2) काँट का निरपेक्ष आदेश (categorical imperative)

(क) मानव को अपनी वासनाओं की तुष्टि से प्राप्त होता है

(ख) तर्कबुद्धि से प्राप्त होता है

(ग) कर्त्तव्यपालन के बाद प्राप्त होता है

(घ) व्यावहारिक प्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है।

उत्तर – (घ)

14.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. काँट द्वारा प्रस्तुत नैतिक युक्ति की व्याख्या करें।

उत्तर – देखें 14.2.1

2. रैशडेल की नैतिक युक्ति क्या है ? समझाएँ।

उत्तर – देखें 14.2.2

14.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने के लिए नैतिक युक्ति की व्याख्या करें।

उत्तर – देखें 14.2

14.6 प्रस्तावित पाठ

1. रैसडेल, हेस्टिंग्स : **'द थ्योरी ऑफ गुड एन्ड इम्ल' पुस्तक में देखें मोरल आर्गुमेंट**
2. डल्ब्यु० आर० सोर्ले : **'मोरल भैल्यूज एन्ड आइडिया ऑफ गौड'**
3. जे० एच० कार्डिनल न्यूमैन : **ए ग्रामर ऑफ एसेन्ट**
4. टी० एच० ग्रीन (सम्पादित) : **काँट सेलेक्सन**
5. एच० जे० पैटन : **द कैटिगोरिकल इम्परेटिभ : द स्टडी इन कान्ट मोरल फिलासफी**
6. सी० सी० जे० बेव : **कॉट्स फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**
7. वाई० मसीह : **रिलिजियस फिलॉसफी**

◆◆◆

ईश्वर के गुण

पाठ-संरचना

15.0 उद्देश्य
15.1 विषय प्रवेश
15.2 मुख्य विषय
15.2.1 ईश्वर के गुण
15.3 सारांश
15.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
15.5 अभ्यास के प्रश्न
15.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
15.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
15.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
15.6 प्रस्तावित पाठ

15.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य ईश्वर के विभिन्न गुणों की व्याख्या करना है।

15.1 विषय प्रवेश

ईश्वरवादी धर्म में ईश्वर की धारणा, केन्द्रीय धारणा होती है। धर्म में ईश्वर की उपासना श्रद्धा के साथ भक्त करते हैं। ईश्वर श्रद्धा एवं उपासना का विषय तभी हो सकता है जब उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ रहें जो उन्हें उपास्य बनाती हों और मानव उनके प्रति नतमस्तक हो जाय। वे कौन से गुण हैं जो ईश्वर को उपास्य बनाते हैं। बहुत से ऐसे काम हैं जो कोई भी मानव स्वयं नहीं कर सकता और केवल ईश्वर ही कर सकता हो, तो हम ईश्वर की शरण में जायेंगे। सर्वप्रथम ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिए अर्थात् उसमें भावना, विचार और संकल्प अर्थात् क्रियाशक्ति होनी चाहिए। धर्म में मानव जब दुःखों से घिर जाता है, और दुःखों से छुटकारा पाने की कोई राह नहीं दीख पड़ती है तो वह प्रार्थना, उपासना और नाना प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है। यदि ईश्वर में भावना न हो तो मानव के दुःखों से वह द्रवित नहीं होगा, यदि ईश्वर में विचारशक्ति न होती तो वह हमारी प्रार्थना नहीं समझेगा और यदि ईश्वर में हमारे दुःखों को दूर करने की शक्ति न हो तो वह हमारी सहायता नहीं कर सकेगा। इसलिए ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना चाहिए ताकि वह भक्तों की पुकार सुन सके, भक्तों के दुःख से द्रवित हो सके और भक्तों के दुःख दूर करने की शक्ति भी होनी चाहिए अर्थात् क्रियाशक्ति, संकल्प होना

चाहिए। भक्त ईश्वर में अपने को समर्पित कर देता है, अर्थात् ईश्वर को अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान होना चाहिए। जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं हो, वह दूसरों की रक्षा किस प्रकार कर सकता है? ईश्वर को सर्वशक्तिमान होना चाहिए अर्थात् ईश्वर में भक्तों के दु:ख दूर करने की अपार शक्ति भी होनी चाहिए। ईश्वर को सर्वज्ञ भी होना चाहिए। यदि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं होगा तो वह हमारी उपासना का विषय कैसे होगा? उपास्य होने का अर्थ है वह हमारे कष्टों को समझ सके, कष्टों को दूर करने की शक्ति रखता हो। ईश्वर को सर्वोपरि एक आदर्श सत्ता होनी चाहिए ताकि वह भक्तों के लिये आदर्श और अटूट श्रद्धा का पात्र हो सके। ईश्वर नैतिक शासक होता है जो पापियों को दंड एवं सत्कर्मियों को पुरस्कृत करता है। ईश्वर सर्वव्यापी होता है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। ईश्वर परमशुभ होता है, वह नित्य सत्ता है, अनन्त सत्ता है। उसमें अशेष कल्याण गुण असीम रहते हैं।

15.2 मुख्य विषय

धर्म की दृष्टि से ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण होना आवश्यक है। हम ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और उससे अपने कष्टों के निवारण की गुहार करते हैं। इसका अर्थ है कि ईश्वर व्यक्तित्ववान है जो हमारी प्रार्थना सुनता है, हमारे दु:खों से द्रवित होकर हमें कष्टों से मुक्ति दिलाता है। ईश्वर में हमारे सभी कष्टों को दूर करने की शक्ति है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होना ईश्वर के तात्विक गुण हैं। ईश्वर एक है, अनन्त है और स्वतंत्र सत्ता है। वह सभी सत्ताओं का आधार है किन्तु स्वयं किसी सत्ता पर निर्भर नहीं करता। वह स्वयंभु है उसका आपातिक अस्तित्व नहीं है, अनिवार्य अस्तित्त्व है। नित्यता, पूर्णता, निरपेक्षता उसकी विशेषता है। वह विश्व का स्रष्टा है। विश्व के हर कण में यह व्याप्त है और विश्वातीत भी है। उसे भी घटनाओं का पूर्वज्ञान रहता है। वह कालातीत है, इसलिए वह काल से परे है। नैतिक दृष्टि से वह परम शुभ है, दया का सागर है, उसकी करुणा और प्रेम सभी सृष्ट प्राणियों पर है। वह प्रेममय, दयावान, क्षमाशील एवं परम पावन सत्ता है।

15.2.1 ईश्वर के गुण

ईश्वरवादी धर्म के अनुसार ईश्वर की धारणा एक परम पावन आध्यात्मिक सत्ता की धारणा है जो पूर्णत: शुभ, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। अगस्तिन, अनसेल्म एवं एक्वीनस जैसे ईश्वरविदों की धारणा है कि ईश्वर एक अनिवार्य अस्तित्व, कालातीत, अपरिवर्तनीय और सरल सत्ता की अवधारणा है। ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर के विभिन्न मौलिक गुणों की व्याख्या करना समीचीन होगा।

(क) अनिवार्य सत्ता

ईश्वर कोरी सत्ता नहीं है, उसे उपास्य माना जाता है। ईश्वर यदि उपास्य है, तो वह अपने गुणों के कारण ही उपास्य माना जा सकता है। उपास्यता की दृष्टि से ईश्वर को अपरिमित अनिवार्य सत्ता होना चाहिए। किन्तु 'अनिवार्य सत्ता' से हम क्या समझते हैं? अनिवार्य सत्ता का अर्थ अनिवार्य सत्ता वह है जिसका अनस्तित्व तर्कत: असम्भव हो। विश्वमूलक प्रमाण ईश्वर की तार्किक अनिवार्य सत्ता प्रमाणित करती है। हिक की दृष्टि में ईश्वर की वास्तविक अनिवार्यता है, तार्किक अनिवार्यता नहीं। ईश्वर का अनस्तित्व भी अन्य सत्ताओं की तरह तार्किक संभावना है। ईश्वर वस्तुत: अनिवार्य सत्ता हैं जो सर्वथा निष्कलंक, अविनाशी, अनादि एवं अनन्त है, जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं करता है। तार्किक अनिवार्यता केवल प्रस्थापनाओं में लागू होती है।

(ख) सर्वज्ञता एवं पूर्वज्ञान

ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन परम्परा से ईश्वरविज्ञ करते आये हैं। ईश्वरवादियों का विश्वास है कि

ईश्वर वह सब कुछ जानता है जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होने वाला है। ईश्वर सर्वज्ञ है क्योंकि उसी ने समस्त पदार्थों की सृष्टि की है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसे भविष्य में होने वाली सभी घटनाओं का पहले से ही ज्ञान रहता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर को पूर्वज्ञान रहता है। यदि ईश्वर को सारी घटनाओं का पूर्वज्ञान रहता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि घटनाएँ अनिवार्यत: घटती हैं, जो घटती है वह अनिवार्य रूप से घटती है। ईश्वरीय पूर्वज्ञान, मानव की इच्छा स्वतंत्रता को खंडित करती है, क्योंकि यदि ईश्वरीय पूर्व ज्ञान सही है तो घटनाएँ उसी प्रकार घटेंगी। फिर मानव के सामने विकल्प का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु संत अगस्तीन का कहना है कि ईश्वरीय पूर्वज्ञान का मानवीय इच्छा स्वतंत्रता पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ता। मानव अपनी इच्छा स्वतंत्रता का प्रयोग कर कोई कार्य सम्पादन करता है और ईश्वर को इसका पूर्वज्ञान रहता है। जो कुछ हम संकल्प करेंगे वह करेंगे। विभिन्न विकल्पों में किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता मानव की ज्यों की ज्यों रहती है। ईश्वरीय पूर्वज्ञान से वह बाधित नहीं होता।

(ग) सर्वशक्तिमत्ता

ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अभिप्राय है कि ईश्वर में सभी वस्तुओं को उत्पन्न करने, उन्हें कायम रखने और नष्ट करने की क्षमता रहती है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान होने का यह अर्थ नहीं है कि वह सब कुछ कर सकता है अर्थात् असंभव कार्य भी कर सकता है जैसे वृत्ताकार वर्ग असंभव कल्पना है। क्या ईश्वर इसे कर सकता है ? क्या ईश्वर आत्म हत्या कर सकता है ? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ लगाना कि वह तर्कत: संभव कार्यों को ही कर सकता है उचित नहीं है, क्योंकि तर्कत: संभावना केवल प्रस्थापनाओं के लिये ही सत्य होती है, सत्ताओं के लिये उसका कोई उपयोग नहीं होता। ईश्वरीय सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ है ईश्वर वह सभी कुछ कर सकता है जो तर्कत: संभव हो और जो उसके गुणों के अनुरूप हो। सर्वशक्तिमान ईश्वर ही हमारी उपासना एवं श्रद्धा का पात्र हो सकता है।

(घ) नित्यता अपरिवर्तनशीलता

ईश्वर अनिवार्य रूप से अपरिवर्तनशील है। क्योंकि कोई भी परिवर्तन या तो भले के लिए होता है या बुरे के लिए। ईश्वर पूर्णसत्ता है, उसमें कोई भी अभाव नहीं है, इसलिए उसे परिवर्तन की जरूरत ही नहीं पड़ती। अपने से अधिक अच्छे के लिए ईश्वर को परिवर्तन की जरूरत नहीं है क्योंकि ईश्वर से अच्छा कोई सत्ता है ही नहीं, ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है। ईश्वर की अपरिवर्तनशीलता का अर्थ है कि किसी भी प्रकार का आकस्मिक या अनिवार्य परिवर्तन ईश्वर से ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता। नित्यता का अर्थ है नहीं होता है। ईश्वर में उपास्य होने का गुण मानव द्वारा आरोपित किया जा सकता है किन्तु इस गुण में ईश्वर काल से परे है। जो काल से बँधा है वह समय बीतने के साथ पुराना हो जाता है, परिवर्तनीय हो जाता है। ईश्वर कालातीत है अर्थात् समय का कोई असर उस पर नहीं होता। ईश्वर इस प्रकार सभी परिवर्तनों से अछूता, नित्य सत्ता है। ईश्वर सतत है।

(ङ) सर्वव्यापी, सर्वोपस्थित

ईश्वर केवल सर्वज्ञ ही नहीं है बल्कि वह सर्वव्यापी भी है। ईश्वर सभी सत्ताओं का आधार है इसलिये सभी सत्ताओं में ईश्वर का वास है। ईश्वर को सर्वव्यापी कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर सर्वत्र मौजूद है। इस दिक् और काल के जगत् के हर कण में ईश्वर का निवास है। ईश्वर को सर्वव्यापी कहने का उद्देश्य यह व्यक्त करना है कि ईश्वर की सत्ता का इस रचना में अवियोज्य संबंध है। उसकी उपस्थिति का ज्ञान हमें हर जगह हो सकता है। ईश्वर अपनी सत्ता का भान हर पल हर वस्तु के द्वारा देता है। जिस प्रकार आत्मा पूरे शरीर में विद्यमान है और सभी शारीरिक तत्त्वों से संबंधित है, क्योंकि वह चेतन आध्यात्मिक सत्ता है। उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता होने के कारण पूरे विश्व में चर, अचर, चराचार जगत में विद्यमान है।

(च) सृष्टि कर्त्तृत्व

सभी ईश्वरवादी यह विश्वास करते हैं कि ईश्वर ही सृष्टिकर्त्ता है, उसी ने इस विश्व की रचना की है। किन्तु ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि पूर्वस्थित पदार्थों से नहीं की, बल्कि शून्य से की है। तार्किक कह सकते

हैं कि शून्य से शून्य की उत्पत्ति होती है तो किस प्रकार ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि शून्य से की ? ईश्वर के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है क्योंकि ईश्वर ही परम सत्ता है। तब ईश्वर ने इस विश्व की रचना किस प्रकार की है ? ईश्वर ने स्वयं अपने आप से इस विश्व की रचना की, जिस प्रकार मकड़ी स्वयं आपने आप से जाल बुनती है, उसी प्रकार ईश्वर ने भी स्वयं अपने आप से इस विश्व की रचना की। जैसा बाइबिल में सृष्टि क्रिया का वर्णन है कि ईश्वर की मात्र इच्छा शक्ति से इस विश्व की रचना हुई। और चूँकि ईश्वर ने अपनी ही शक्ति से विश्व की रचना की, इसलिए यह पूरी रचना ईश्वर की सत्ता का साक्ष्य देती है। किन्तु तब एक दूसरा प्रश्न उठेगा कि यदि ईश्वर अपने आप को इस विश्व में प्रकाशित करता है तो वह इस विश्व में अन्तर्वर्तित है। क्या इस विश्व से बाहर भी उसकी कोई सत्ता या वह इस पूरे विश्व में अन्तर्भूत है ?

(छ) अन्तर्वर्तिता एवं अतीतपन

ईश्वर का सृष्टिकर्त्तृत्व से यह प्रश्न उद्‌भूत होता है। सर्वेश्वरवाद इस विश्व के कण-कण में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। इस वाद के अनुसार विश्व ही ईश्वर है और ईश्वर ही विश्व है। ईश्वर के अतीतपन को भारतीय दार्शनिक शंकर, थामस एक्वीनस और पॉल तिलिख ने मानव के सभी संज्ञानात्मक प्रत्यय से परे और स्वतंत्र माना है। ईश्वर को निरपेक्ष सत्ता के रूप में अज्ञेय मानकर उसके अतीतपन को व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु तब ईश्वर उपास्य नहीं रहेगा और अज्ञात एवं अज्ञेय सत्ता हो जायगा। ऐसा ईश्वर व्यक्तित्त्वहीन होगा जो धर्म की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः ईश्वर अन्तर्वर्तित एवं अतीत दोनों ही है धर्म की दृष्टि से। ईश्वर इस विश्व में अपनी पूर्ण महानता के साथ अनन्तरूप में अन्तर्वर्तित है। किन्तु ईश्वर की सत्ता इस विश्व में ही नहीं, उससे बाहर भी है। यह विश्व उसकी महानता, अनन्तता को आंशिक रूप से व्यक्त करता है। किन्तु विश्व से परे भी उसकी सत्ता है। उसकी असीमता इस सीमित विश्व में नष्ट नहीं होती, यह विश्व उसकी सर्वशक्तिमत्ता, उसकी सर्वज्ञता की एक झलक मात्र है। उसकी महिमा अपरम्पार है।

(ज) व्यक्तित्वपूर्णता

धार्मिक दृष्टि से ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता मानव को ईश्वर के प्रति श्रद्धावान, निष्ठावान बनाती है। अपने कष्टों के निवारण के लिए ईश्वर की प्रार्थना, उपासना एवं अन्य धार्मिक कृत्य हम इस विश्वास पर करते हैं कि ईश्वर हमारी प्रार्थना सुनता है और उसमें शक्ति एवं सामर्थ्य है कि वह पल भर में हमें कष्टों से छुटकारा दिला दे। ईश्वर सर्वोपरि व्यक्तित्ववान सत्ता है। ईश्वर को व्यक्तित्ववान समझना ईश्वर को सीमित करना नहीं है। ईश्वर की करुणा, प्यार आदि मानवोचित गुण उसे सीमित नहीं बनाते, क्योंकि उसकी करुणा, प्यार आदि असीम है, अनन्त है। मानव के लिए अपने द्वारा सृष्ट समस्त रचना के लिए उनका प्रेम निःस्वार्थ है, उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति है। उनका स्वरूप ही प्रेममय, करुणामय एवं दया उड़ेलना है। वह पूर्ण सत्ता है उसमें किसी भी गुण का अभाव नहीं है। वह सर्वगुण सम्पन्न है।

ईश्वर के नैतिक गुण

धर्म नैतिकता से जुड़ा हुआ है। धर्म की अभिव्यक्ति भक्त के नैतिक आचरणों में प्रकट होती है। धर्माचरण केवल उपासना, पूजा अर्चना नहीं है, बल्कि एक दूसरे के साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार है। धार्मिक आदर्श नैतिक आदर्श है।

शुभत्व

शुभत्व एवं प्रेम का गुण ईश्वर को नैतिक आदर्श के रूप में प्रस्थापित करता है। ईश्वर ने इस विश्व की रचना स्वेच्छा से की है। वे पूर्णरूपेण शुभ हैं और उनका शुभत्व इस पूरी रचना में अभिव्यक्त होता है। ईश्वर अपने शुभत्व को विश्व में अनायास, बिना किसी हिचकिचाहट के उड़ेलते रहते है ताकि मानव भी शुभत्व

को प्राप्त कर शुभ बन जाय। सारी रचना ईश्वर के शुभत्व का साक्ष्य देती है। सूर्य प्रकाश और जीवन देता है। वर्षा पृथ्वी पर धन-धान्य का स्रोत है। वर्षा खेतों को लहलहाते फसल देती है जो जीवों के भोजन और शक्ति का कारण है। ईश्वर परम शुभ है और वह चाहता है कि सभी कोई शुभ बने और आपस में प्रेम का साम्राज्य हो। मानव को इच्छा, स्वतंत्रता प्रदान कर ईश्वर उसे स्वयं को विकसित कर ईश्वर के अनुरूप बनने के लिए प्रेरित करता है।

सारी रचना ईश्वर के प्रेम की अभिव्यक्ति है। ईश्वर का प्रेम मानव प्रेम की तरह स्वार्थमय नहीं है, बल्कि मानव के सुख समृद्धि के लिये स्वार्थ रहित प्रेम है।

ईश्वर प्रेममय क्षमाशील है

ईश्वर की रचना का उद्देश्य पूरे विश्व में शुभत्व की स्थापना करना है। जो सर्वोत्कृष्ट गुण ईश्वर में है उसकी अभिव्यक्ति पूरे विश्व में हो, इसी उद्देश्य से सृष्टि के सिरमौर के रूप में मानव की रचना ईश्वर ने की। किन्तु मानव इस उद्देश्य को भूलकर अपने पथ से विमुख हो जाता है। फिर भी ईश्वर अपनी कृपा उस पर बनाये रखता है। जब भी मानव सच्चे दिल से ईश्वर को याद करता है, अपने पाप कर्मों को स्वीकार करता है, तत्क्षण ईश्वर उसे क्षमा कर देता है और अपनी शरण में ले लेता है। ईसा मसीह को जब क्रूस पर लटकाया जा रहा था तो उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि हे प्रभु, तू इन्हें क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। ईश्वर की क्षमाशीलता का यह अनुपम उदाहरण है। ईश्वर दयालु है और उनकी क्षमाशीलता का कोई आर-पार नहीं है।

न्यायशीलता

काँट ने ईश्वर को नैतिक प्रशासक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। ईश्वर का न्याय सर्वोपरि होता है। चूँकि ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए कोई भी अच्छा या बुरा कर्म उससे छिपा नहीं रहता। पापियों को दण्ड देना, अच्छे कर्म करने वालों को पुरस्कृत करना, न्यायप्रिय ईश्वर का कार्य है। भारतीय दर्शन में भी बताया गया है कि जीवों के सत् असत् कर्मों का लेखा जोखा उसके अदृष्ट में रहता है और इसी अदृष्ट के अनुसार ईश्वर जीवों को कर्मफल प्रदान करता है। इस विश्व का चरम उद्देश्य शुभ संकल्प की प्राप्ति है। सभी जीव शुभ संकल्पी और सत्कर्मी बनें, यही ईश्वरेच्छा है।

15.3 सारांश

ईश्वर उपास्य है ईश्वर सभी सर्वोत्कृष्ट गुणों का भंडार है। सभी गुण उनमें सर्वोच्च रूप से व्याप्त रहता है। अशेष कल्याण गुणों से युक्त ईश्वर की उपासना भक्त श्रद्धाभाव से करते हैं। ईश्वर के विभिन्न गुणों को तात्विक, धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। परम सत्ता के रूप में ईश्वर एक अनन्त, परिमित, नित्य एवं अनिवार्य, सत्ता है। उपास्य के रूप में ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता है। ईश्वर ने पूरी सृष्टि की रचना, स्वेच्छा से अपने आप से की है, इसलिये इस रचना का हर कारण ईश्वर की महानता एवं ऐश्वर्य का साक्ष्य देता है। ईश्वर मानव के दुःखों से द्रवित होता होता है। मानव की प्रार्थना एवं पुकार सुनता है और उसके कष्टों को दूर करता है। ईश्वर को पूर्वज्ञान रहता है। वर्तमान, भविष्य एवं भूतकाल की सभी घटनाओं का उसे पहले से ही ज्ञान रहता है। ईश्वर का पूर्व ज्ञान मानव की इच्छा स्वातंत्र्य को बाधित नहीं करता है। मानव अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग कर विकल्पों में किसी एक को चुनता है और ईश्वर को उसकी स्वतंत्र इच्छा के चुनाव का पूर्वज्ञान भी रहता है। ईश्वर इस विश्व की रचना शुभ संकल्प की प्राप्ति के लिए करता है। वह परम शुभ सत्ता है और विश्व की सृष्टि परम शुभ की प्राप्ति के लिये ही करता है। सभी जीव सत्संकल्पी हों, एक दूसरे के साथ प्रेम से रहें, उनकी दया अपरम्पार है। वे मानव की भूलों को क्षमा कर देते हैं यदि मानव को अपनी भूल का ज्ञान हो जाता है और वह ईश्वर की शरण में चला जाता है। ईश्वर परम न्यायी है। क्षमाशीलता एवं न्यायप्रियता उसके आवश्यक गुण हैं। ईश्वर सभी सत्ताओं का कारण है, स्वयं अकारण एवं नित्य सत्ता है। वह स्वयंभू है।

15.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

सर्वशक्तिमान = सब कुछ करने की शक्ति। सर्वज्ञ = सब कुछ जानने वाला

सर्वव्यापी = सभी जगह उपस्थित रहना

15.5 अभ्यास के प्रश्न

15.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) ईश्वर के गुण

(क) वियोज्य गुण है

(ख) आकस्मिक गुण है

(ग) ईश्वर के सारे गुण हैं

(घ) मानवीय कल्पना है

उत्तर – (ग)

(2) ईश्वर की सर्वशक्तिमतता का अर्थ है

(क) वह सब कुछ असंभव कार्य भी कर सकता है

(ख) वह सभी कुछ कर सकता है जो मानव कर सकता है

(ग) वह केवल वही कर सकता है जो तर्कतः संभव हो

(घ) वह केवल तर्कतः सम्भव एवं अपने गुणों के अनुरूप सभी कुछ कर सकता है।

उत्तर – (घ)

15.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्वज्ञता की व्याख्या करें।

उत्तर – 15.2.1 (ख) (ग)

2. किस प्रकार ईश्वर अनिवार्य एवं अपरिवर्तनीय सत्ता है ?

उत्तर – 15.2.1 (क), (घ)

15.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वर के विभिन्न गुणों की व्याख्या करें।

उत्तर – 15.2.1

15.6 प्रस्तावित पाठ

1. ए० सेस पीन्गले पैटिसन : **आइडिया ऑफ गॉड**
2. एस० एलेक्जेन्डर : **थिज्म एन्ड पैन्थीज्म**
3. एस० एलेक्जेन्डर : **स्पेस, टाइम एन्ड डिटी vol II**

◆◆◆

इकाई 16

अशुभ की समस्या : प्राकृतिक एवं नैतिक

पाठ-संरचना

16.0 उद्देश्य
16.1 विषय प्रवेश
16.2 मुख्य विषय
16.2.1 प्राकृतिक अशुभ
16.2.2 नैतिक अशुभ
16.2.3 अशुभ की समस्या
16.3 सारांश
16.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
16.5 अभ्यास के प्रश्न
16.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
16.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
16.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
16.6 प्रस्तावित पाठ

16.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य अशुभ एवं दो प्रकार के अशुभों : प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ की व्याख्या करना है। जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं उनके लिए अशुभ का अस्तित्व किस प्रकार समस्या बन जाती है – इस पर भी प्रकाश डालना इस पाठ का उद्देश्य है।

16.1 विषय प्रवेश

अशुभ की समस्या सदा से ईश्वरवादियों के लिए एक पेचीदा प्रश्न रहा है। दार्शनिकों एवं धर्मविद सदा से इस समस्या के समाधान के लिए जूझते रहे हैं। सबसे पहला प्रश्न अशुभ क्या है ? और उसका निदान किस प्रकार हो सकता है ? गौतम बुद्ध ने जन्म या बुढ़ापा एवं मृत्यु को अशुभ माना है, क्योंकि ये जीवन को दु:खमय बनाते हैं। उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी, दु:ख से किस प्रकार सदा के लिए छुटकारा पाया जा सकता है, इसके निदान में लगा दी। सांख्य दर्शन ने त्रयदु:खों में भेद कर दु:ख निवृत्ति का मार्ग प्रतिपादित किया। अशुभ का अर्थ शारीरिक, मानसिक एवं अनैतिक आचरणों से उत्पन्न दु:ख है। जीवन में बहुत सारी यातनाएँ या कष्ट मानव

द्वारा अमानुषिक कार्य किये जाने के कारण होती है। गरीबी, शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ, युद्ध एवं प्रताड़नाएँ, अन्याय, असमानता, अपमान, बेइज्जती, जिल्लत आदि कष्ट मानव क्रियाओं के कारण होती हैं। बहुत सारे कष्ट प्राकृतिक घटनाओं के कारण भी होती हैं जैसे भूकम्प, अकाल, बाढ़, तूफान, सूखा, महामारी आदि। ईश्वरवादियों के लिए अशुभ का अस्तित्व एक चुनौती है।

16.2 मुख्य विषय

शुभ का अभाव ही अशुभ है। जिस किसी घटना से कोई अनिष्ट हो, जिससे किसी भी प्राणी को दुःख हो वह अशुभ है। मृत्यु अशुभ है, क्योंकि इसमें जीवन का अभाव है, बीमारी अशुभ है, क्योंकि स्वास्थ्य का अभाव है, दीनता अशुभ है, क्योंकि धन का अभाव है, कुरूपता अशुभ है, क्योंकि यह सौंदर्य का अभाव है। सुख, शान्ति, सत्य, सौंदर्य आदि मूल्यवान हैं, क्योंकि ये शुभ हैं। इन मूल्यों का जिससे हनन होता है, वे सभी अशुभ हैं। मानव के दुःखों का कारण अशुभ है। अशुभ कई प्रकार के हो सकते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार अशुभ तात्विक, भौतिक और नैतिक हो सकते हैं। तात्विक अशुभ सृष्टि प्रक्रिया से जुड़ी हुई त्रुटियाँ हैं। हर प्रकार की रचना में कुछ न कुछ खामियाँ अवश्य रहती हैं। बिना इन दोषों के कोई सृष्टि या रचना नहीं हो सकती। ऐसी .त्रुटियाँ तात्त्विक अशुभ कहलाती हैं। भौतिक अशुभ वे अशुभ हैं जो शारीरिक कष्ट के कारण होते हैं। बीमारी, अस्वस्थता, दर्द, मृत्यु आदि भौतिक अशुभ हैं। मानव द्वारा अपनी स्वतंत्र इच्छा के दुरुपयोग के कारण नैतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। चोरी, असत्यवाद, बेईमानी आदि नैतिक अशुभ हैं।

16.2.1 प्राकृतिक अशुभ

प्राकृतिक अशुभ वैसे अशुभ को कहते हैं जो प्रकृति के संगठन या रचना से जुड़े होते हैं। प्राकृतिक घटनाएँ सभी प्राणी को समान रूप से प्रभावित करती हैं। प्राकृतिक घटनाओं पर मानव को कोई अधिकार नहीं रहता। भूकम्प, तूफान, बाढ़, अकाल, सूखा, महामारी, आदि प्राकृतिक अशुभ हैं, क्योंकि इन प्राकृतिक घटनाओं के कारण केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी सभी समान रूप से कष्ट झेलते हैं। ये सभी प्राकृतिक घटनाएँ प्राकृतिक अशुभ कहलाती हैं। वेदना, व्याधि, मृत्यु, प्रकृति प्रदत्त हैं। रोगाणु प्रकृति में हैं और रोगाणु मनुष्य व पशुओं को बीमार बनाता है और कभी-कभी मृत्यु भी प्रदान करता है। प्रकृति कई प्रकार से प्राणियों पर विपत्ति लाती है। बाढ़, भूकम्प, ज्वालामुखी, विस्फोट, टिड्डियों का आक्रमण आदि प्राकृतिक घटनाएँ हैं जो असंख्य प्राणियों पर दुःखों का पहाड़ ढाहती हैं, उन्हें मृत्यु के मुख में ढकेलती हैं। प्रकृति में बाघ, शेर, साँप जैसे जंगली जानवर पलते हैं जिनके भय से मानव और अन्य प्राणियों की जिन्दगी सदा कष्ट में, भय से आक्रान्त रहती है। सुप्रसिद्ध चिन्तक जे० एस० मिल ने अपनी पुस्तक ''थ्री इसेज ऑन रिलिजन'' में प्राकृतिक अशुभों का चित्रण किया है। अपने निबन्ध 'इज देयर मोर इविल्स दैन गुड इन नेचर' में वह कहते हैं कि प्रकृति कठोर, निर्दय तथा सम्पूर्णतः अनैतिक मालूम देती है। प्रतिदिन प्रकृति उन कुकर्मों को करती रहती है जिन्हें यदि कोई व्यक्ति करता तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता। हजारों जीवों को प्रकृति ठण्ढ, लू, सूखा, बाढ़, तूफान तथा भूकम्प इत्यादि द्वारा विनष्ट करती है। मिल के अनुसार प्रकृति के विधान में कहीं भी दया, धर्म तथा न्याय नहीं दिखाई देता है। यही नहीं, धर्म और अधर्म दोनों एक समान प्रकृति द्वारा प्रदत्त आपत्तियों से त्रस्त रहते हैं। उच्चतम आदर्शों में लगे हुए साधु एवं विद्वान व्यक्तियों को भी प्राकृतिक आपदाओं का शिकार बनना पड़ता है। पापी और पुण्यात्माओं को प्रकृति समान रूप से दुःख दर्द देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के व्यवहार में कोई न्यायप्रियता नहीं है। प्रकृति उन्हें भी भीषण दण्ड देती है जो सर्वथा निर्दोष रहते हैं और नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या वे सचमुच अशुभ हैं ? क्या प्रकृति जान बूझ कर ये कुकर्म करती है ? प्रकृति तो अचेतन है। वह जानबूझकर मानव या जीवों को प्रताड़ित नहीं करती। प्रकृति के व्यवहारों को नैतिक या अनैतिक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। प्राकृतिक अशुभों के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि

प्राकृतिक अशुभ मानव के लिए चुनौती हैं। इन आपदाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए मानव अपनी सारी शक्ति लगा देता है। बाढ़ पर नियंत्रण, सूखे पर नियंत्रण, भूकम्प का पूर्वज्ञान और भूकम्प के प्रभावों से बचने के उपाय, संक्रामक रोगों से बचने के उपाय मानव ने खोज निकाले हैं। प्राकृतिक अशुभों के कारण सभ्यता का विकास, वैज्ञानिक आविष्कार आदि हुए हैं और हो रहे हैं। किन्तु इन तर्कों के सहारे हम प्राकृतिक अशुभों के स्वरूप नहीं बदल सकते हैं। भूकम्प, अकाल, महामारी, अशुभ की कोटि में ही आयेंगे। प्राकृतिक अशुभों को रोकना मानव के वश में नहीं है।

16.2.2 नैतिक अशुभ

प्राकृतिक अशुभ प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, नैतिक अशुभ का कारण मनुष्य है। मनुष्य कुछ ऐसे कर्म करता है जिससे अन्य मनुष्यों को दु:ख पहुँचता है, जैसे चोरी, बेईमानी, दंगा, लड़ाई, डकैती, आदि। ऐसे कर्म अनैतिक कहलाते हैं क्योंकि ये नैतिक नियमों का उल्लंघनजन्य कर्म है। ऐसे कर्म, नैतिक अशुभ कहे जाते हैं। नैतिक अशुभ मानव संकल्प की उपज हैं। मनुष्य ही नैतिक अशुभ के लिए उत्तरदायी है। दुष्ट मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से चोरी, डकैती, हिंसा, धोखाघड़ी जैसे अपराध कर्म करता है। ये ही कर्म अशुभ कर्म कहलाते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही वह जन्म लेता है, बढ़ता है, शिक्षा प्राप्त करता है एवं योग्य नागरिक बनता है। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए उसे अपनी इच्छाओं, वासनाओं को नियंत्रित करना पड़ता है और सामाजिक, नैतिक लक्ष्य के अनुरूप अपने को व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए कुछ नियम होते हैं। मानव जब इन नियमों को तोड़ता है तो नैतिक अशुभ की उत्पत्ति है। चोरी, हत्या, बलात्कार, आदि दुष्कर्म नैतिक अशुभ कहे जाते हैं। ईश्वर ने मानव को संकल्प-स्वातंत्र्य प्रदान किया है ताकि वह कोई कर्म करने के पहले उचित-अनुचित कर्मों पर विचार कर संकल्प स्वातंत्र्य का सही प्रयोग करे और ऐसा विकल्प चुने जिससे कि शुभत्व की प्राप्ति हो। किन्तु जब वह संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर अनुचित विकल्प को चुन लेता है और तदनुसार गलत कर्म करता है तो नैतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। नैतिक अशुभ मानव के सुखी जीवन का हनन कर उसके जीवन को दु:खी बना देता है।

नैतिक अशुभ की उत्पत्ति के बारे में दो धारणाएँ व्यक्त की जाती हैं। एक धारणा के अनुसार, नैतिक अशुभ की उत्पत्ति प्राकृतिक अशुभ के कारण हुई है। इस विचारधारा के अनुसार प्राकृतिक अशुभ जैसे भूकम्प दुर्भिक्ष, बाढ़, सूखा आदि के कारण मानव जब भूखों मरने लगता है, तो वह अपनी जीवन रक्षा के लिए, अपने परिवार का पेट पालने के लिए नैतिक अशुभों का श्रेय लेता है अथार्त् चोरी, डकैती, हत्या, लूट-पाट आदि अनैतिक कर्म करने लगता है। इस विचार के अनुसार प्राकृतिक अशुभ पहले से विद्यमान थे। प्राकृतिक अशुभों ने ही नैतिक अशुभों के विकास का अवसर प्रदान किया। भूख, अभाव और वेदना और इसी प्रकार के अन्य दु:खों ने व्यक्ति को नैतिक अशुभ कर्म करने के लिए प्रेरित किया। इस सिद्धांत के अनुसार यदि प्राकृतिक अशुभ नहीं होते तो नैतिक अशुभ नहीं होते। नैतिक कर्मों का अतिक्रमण भी नहीं होता। ऐसा इसलिए कि मानव संकल्प का गलत या अनुचित प्रयोग करने का प्रलोभन और प्रोत्साहन नहीं मिलता।

दूसरी विचारधारा के अनुसार नैतिक अशुभ, प्राकृतिक अशुभ की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। मानव ने ईश्वर द्वारा दिये गये संकल्प स्वातंत्र्य का उचित प्रयोग नहीं किया। ईश्वर को आशा थी कि मानव संकल्प स्वातंत्र्य का उचित प्रयोग करेगा, किन्तु मानव ने ईश्वर की आशा पूर्ण नहीं की। इसलिए ईश्वर ने मानव को दंड देने के लिए प्राकृतिक अशुभों की रचना की। प्राकृतिक अशुभ ईश्वर के क्रोध का सूचक है। बाघ, साँप, भूख, मृत्यु, रोग आदि जितने भी प्राकृतिक अशुभ हैं, सभी मानव को प्रताड़ित करने का एक माध्यम है। इस सिद्धांत के अनुसार प्राकृतिक अशुभ का विकास नैतिक अशुभ के बाद हुआ। यह मत स्पष्टत: गलत है। सृष्टि प्रक्रिया का जो वर्णन बाइबिल जैसे धर्मग्रन्थ में मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि मानव की रचना ईश्वर ने

पूरी सृष्टि करने के बाद किया। अत: नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ से अधिक प्राचीन नहीं हो सकता। वैज्ञानिक खोजों के मुताबिक भी पहले पृथ्वी का विकास हुआ, बाद में स्थिति अनुरूप होने पर जीवों का विकास हुआ। प्राकृतिक अशुभ प्रकृति के आरम्भ से ही था और वही नैतिक अशुभ का कारण है। प्रो० गैलवे ने स्पष्ट कहा है कि ''भूख, अभाव, पीड़ा सचमुच मनुष्य को नैतिक अशुभ की ओर ले जाते हैं। यदि प्राकृतिक अशुभ की अनुभूति मानव को नहीं होती, तो वह नैतिक अत्याचार करने के लिए बाध्यता नहीं महसूस करता।

16.2.3 अशुभ की समस्या

अशुभ का अस्तित्व धार्मिक विकास की प्रारंभिक अवस्था में नहीं था। हमारे प्राचीन धार्मिक चिन्तकों की धारणा थी कि अच्छी एवं बुरी दोनों प्रकार की आत्माएँ इस जगत में बसती हैं। शुभ आत्माओं के कारण यह जगत शुभ का अस्तित्व है और अशुभ आत्माओं के कारण इस विश्व में अशुभ का अस्तित्व है। जब धार्मिक परम्परा में बहुदेववाद का विकास हुआ तो कुछ देवताओं को शुभ का स्रष्टा माना गया और कुछ दुष्ट देवताओं को अशुभ का कारण माना गया। इस प्रकार अशुभ की व्याख्या आसानी से की जाती रही। द्वैईश्वरवाद में भी एक ईश्वर को शुभ का स्रष्टा और शैतान को अशुभ का स्रष्टा माना जाता है।

पारसी धर्म में आहुरा मजदा एवं अहर्रिमन दो ईश्वर में विश्वास किया जाता है। आहुरा मजदा प्रकाश अर्थात् शुभ का कारण है और अहरिर्मन अशुभ अथवा अन्धकार का कारण है। सर्वेश्वरवाद में अशुभ की समस्या नहीं उठती क्योंकि ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है। अशुभ का अस्तित्व समस्या है उन ईश्वरवादियों के लिए जो एक सर्वशक्तिमान एवं परम शुभ और करुणामय ईश्वर में विश्वास करते हैं। ईश्वरवादी अशुभ के अस्तित्व को नकार नहीं सकते, क्योंकि हर भक्त दु:खी है और दु:ख से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर की शरण लेता है। किन्तु यदि ईश्वर परम शुभ एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है तो अशुभ का अस्तित्व (ईश्वर के शुभ स्वरूप का विरोधी) इस विश्व में किस प्रकार हो सकता है? फिर ईश्वर यदि सर्वशक्तिमान है तो अशुभ का प्रवेश इस रचना में किस प्रकार और क्यूँ होता है? ईश्वर ने अपनी रचना में अपने स्वभाव के प्रतिकूल अशुभ का प्रवेश क्यूँ होने दिया? वे सर्वशक्तिमान हैं तो अशुभ को अपनी रचना में प्रवेश करने से रोक देना उनके वश में था। किन्तु अशुभ की उपस्थिति उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर प्रश्न चिह्न लगा देता है। जे० एम० मैकटेगार्ट ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं मानते, वे ईश्वर को सीमित शक्ति वाला मानते हैं। दूसरा प्रश्न उनके शुभत्व को लेकर है, यदि ईश्वर का स्वरूप परम शुभत्व का है और प्रेम एवं दयावान है तो इस रचना में अशुभ का अस्तित्व किस प्रकार उनके जीवों के प्रति दयावान और उनका अपना स्वरूप शुभत्व को प्रमाणित करता है? इस प्रकार शुभ का अस्तित्त्व ईश्वरवादियों के लिए एक चुनौती भरी समस्या है।

ईश्वरवादी इस समस्या का निदान दो प्रकार से कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि मानव सीमित प्राणी है, उसका ज्ञान अधूरा एवं सीमित ही रहेगा। जिसे वह जिसे अशुभ कहता है, वह उसकी सीमित दृष्टि, अधूरे ज्ञान का परिचायक है। वह अपनी सीमित ज्ञान के आधार पर अशुभ कहता है, इस परम सत्ता की दृष्टि में वह अशुभ नहीं है। अशुभ का अस्तित्व वास्तव में है ही नहीं, अनन्त ईश्वर की दृष्टि में अशुभ का वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं वह मानव के भ्रमात्मक ज्ञान का परिणाम है। आंशिक दृष्टि से जो हमें अशुभ प्रतीत होता है, समग्र दृष्टि से उसका अस्तित्व नहीं है। अशुभ भ्रम है, सत्य नहीं। ईश्वरवादी अशुभ के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए यह भी कह सकते हैं कि अशुभ का अस्तित्व, इस रचना के शुभत्व में चार चाँद लगा देते हैं। जिस प्रकार से नमक भोजन के स्वाद को बढ़ा देता है, जिस प्रकार किसी कैनभास पर विरोधी रंगों का प्रयोग कैनभास पर उतारे गये चित्र का सौंदर्य बढ़ा देता है, जिस प्रकार कुछ बेसुरी आवाज के पुट से सुरीला गीत और भी अधिक सुरीला हो जाता है, उसी प्रकार कतिपय अशुभों की उपस्थिति से उस परम सत्ता की रचना का शुभत्व और भी निखर उठता है।

16.3 सारांश

प्राकृतिक अशुभ प्रकृति द्वारा प्रदत्त अशुभ हैं। प्रकृति की संरचना एवं क्रियाकलाप में भूकम्प, अकाल, बाढ़, तूफान, सूखा, ज्वालामुखी विस्फोट की घटनाएँ सभी जीवों के जीवन पर कहर ढालती हैं। इन्हें प्राकृतिक अशुभ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मानव के अमानुषिक व्यवहारों से भी कई अशुभों का जन्म होता है। जब मानव नीति का रास्ता छोड़कर अपनी इच्छा स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर अनीति की राह अपनाता है, चोरी, डकैती, बेईमानी, फरेब हिंसा आदि करता है और पूरे मानव समाज को कष्ट पहुँचाता है तो नैतिक अशुभों का प्रादुर्भाव होता है। हत्या, व्यभिचार, चोरी, हिंसा, शत्रुता, पाप आदि नैतिक अशुभ हैं। प्राकृतिक अशुभों के कारण भूखमरी से बचने के लिए मनुष्य अनैतिक कर्म करता है। नैतिक अशुभ की जननी इस प्रकार प्राकृतिक अशुभ भी कहा जा सकता है। अशुभ का अस्तित्व उन ईश्वरवादियों के लिए समस्या है जो एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं और ईश्वर को सर्वशक्तिमान, परम शुभ मानते हैं। प्रश्न उठता है कि परम शुभत्व वाला ईश्वर किस प्रकार अपनी रचना में अपने स्वभाव के विपरीत अशुभ के अस्तित्व की अनुमति देता है। पुनः ईश्वर, सर्वशक्तिमान है तो अपनी रचना में अशुभ के प्रवेश को क्यों नहीं रोकता है ? इस प्रकार अशुभ का अस्तित्व ईश्वरवादियों के लिए एक चुनौती है, समस्या है।

16.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

(i) अशुभ का तात्पर्य दु:खों से है। सभी प्रकार के दु:ख अशुभ ही हैं।

(ii) प्राकृतिक अशुभ वे दु:ख हैं जिसका कारण प्रकृति या प्राकृतिक घटना है।

(iii) नैतिक अशुभ मानव द्वारा उत्पन्न दु:ख है।

16.5 अभ्यास के प्रश्न

16.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) नैतिक अशुभ का कारण

(क) प्रकृति है

(ख) ईश्वर है

(ग) मानव है

(घ) हिंसक पशु है।

उत्तर – (ग)

(2) अशुभ की समस्या केवल

(क) तटस्थ ईश्वरवादियों के लिए है

(ख) सर्वेश्वरवादियों के लिए है

(ग) द्वै-ईश्वरवादियों के लिये है

(घ) ईश्वरवादियों के लिए हैं।

उत्तर – (घ)

16.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्राकृतिक अशुभ की व्याख्या करें।

उत्तर – 16.2.1

2. नैतिक अशुभ से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर – 16.2.2

16.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्राकृतिक अशुभ एवं नैतिक अशुभ में विभेद करें।

उत्तर – 16.2.1, 16.2.2

16.6 प्रस्तावित पाठ

1. जे० एस० मिल : **थ्री एसेज ऑन रिलिजन**
2. जे० एस० मिल : **'इज देयर मोर इभिल्स दैन गुड इन नेचर' लेख ब्रॉस्टीन एन्ड स्कुलवीज (सम्पादित) एप्रोचेज टू फिलासफी ऑफ रिलिजन**
3. नेल्सन पाइक (संपादित) : **गॉड एन्ड ईभिल प्रेन्टीस हॉल, १९५४**
4. विलियम टेम्पुल : **द प्रॉबलेम ऑफ मोरल इभिल**
5. जॉन हिक (सम्पादित) : **क्लासिकल एन्ड कन्टेम्पोरेरी रीडिंग्स इन द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन**

◆◆◆

इकाई 17

अशुभ की समस्या का ईश्वरवादी समाधान

पाठ-संरचना

17.0 उद्देश्य
17.1 विषय प्रवेश
17.2 मुख्य विषय
17.2.1 अशुभ की समस्या का ईश्वरवादी समाधान
(अ) अशुभ भ्रम है, आभास है, वास्तविक नहीं
(ब) अशुभ शुभ का अनिवार्य प्रतिपूरक है
(स) अशुभ शुभ प्राप्ति लिये अनिवार्य साधन है
(द) विश्व कुछ अशुभों की उपस्थिति से अधिक अच्छा है उस विश्व से जो अशुभ विहीन हो
(इ) अशुभ के अस्तित्व के लिए स्वयं मानव उत्तरदायी है, ईश्वर नहीं।
17.3 सारांश
17.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
17.5 अभ्यास के प्रश्न
17.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
17.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
17.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
17.6 प्रस्तावित पाठ

17.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य अशुभ की समस्या से आपको अवगत कराना है एवं इस समस्या के ईश्वरवादी समाधानों से आपको परिचित कराना है।

17.1 विषय प्रवेश

जो कुछ भी शुभ का विरोध करता है अशुभ है। मानवीय दु:खों की गहराई पर ध्यान देने पर, मानव के लोभ और स्वार्थ लोलुपता के कारण मानव को जिन अमानुषिक कष्टों को प्रतिदिन सहना पड़ता है, अशुभ

की यथार्थता के बारे में विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त साक्ष्य है। विश्व में व्याप्त उत्पीड़न, दुःख को देख कर सृष्टिकर्त्ता के करुणामय, सर्वप्रकार से शुभ स्रष्टा होने पर एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है। ईश्वरवादियों का दृढ़ विश्वास ईश्वर की सर्वशक्तिमता, सर्वज्ञता एवं पूर्णरूपेण शुभत्व में है। अशुभ के अस्तित्व में भी उनका विश्वास है। अशुभ का अस्तित्व किस प्रकार सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कल्याणीय ईश्वर के साथ मेल खाता है ? किस प्रकार सर्वप्रकार से शुभ ईश्वर के स्वरूप के साथ अशुभ का प्रवेश इस रचना में होता है ? किस प्रकार सर्वशक्तिमान होने के बावजूद अशुभ से इस रचना की मुक्ति नहीं कर पाने पर भी वे सर्वशक्तिमान एवं शुभ स्वरूप वाली सत्ता कहलाने के अधिकारी हैं ? यह दिखाना ही अशुभ की समस्या का समाधान होगा।

17.2 मुख्य विषय

ईश्वरवादी सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्णरूपेण शुभ सत्ता के रूप में ईश्वर में विश्वास करते हैं। वे साथ-साथ यह भी मानते हैं कि विश्व में अशुभ का अस्तित्व है। इन सभी उक्तियों में एक साथ विश्वास करना ही, ईश्वरवादी के लिए एक समस्या बन जाती है। इस समस्या को एक द्विविधा के रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है : यदि ईश्वर पूर्णतः शुभ और प्रेममय है तो ईश्वर को सभी अशुभों को दूर करना चाहिये, और यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो वह भी अशुभों को दूर करने में समर्थ है, किन्तु विश्व में अशुभ का अस्तित्व है। इसलिए ईश्वर सर्वशक्तिमान और पूर्णरूपेण शुभ एवं करुणामय, दोनो नहीं हो सकता है। ईश्वरवादियों को अशुभ अस्तित्व का (विश्व में) औचित्य दिखाने के साथ-साथ यह भी दिखाना पड़ेगा कि वे कैसे सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ भी हैं ? अशुभ के अस्तित्व दिखाने के लिए उन्हें पर्याप्त कारण बताना पड़ेगा। ईश्वरवादियों के लिए अशुभ की समस्या का निदान यह ढूँढ़ने में है कि ईश्वर और अशुभ का अस्तित्व में कोई असंगति नहीं है, दोनों एक साथ रह सकते हैं।

17.2.1 अशुभ की समस्या का ईश्वरवादी समाधान

(अ) अशुभ भ्रम है, आभास है। अशुभ वास्तविक नहीं है

ईश्वर के साथ अशुभ की संगति दिखाने का एक रास्ता यह है कि जिसे हम अशुभ कहते हैं वह वास्तव में अशुभ नहीं है। चूँकि हमारा ज्ञान अधूरा है। इसलिए विश्व की घटनाओं को हम अशुभ कहते हैं। भारतीय ईश्वरवादी कहते हैं कि मानव अज्ञानवश अशुभ की सत्ता में विश्वास करने लगता है। व्यावहारिक जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है, वह केवल आभास मात्र है जो अशुभ इस जगत में दिखते हैं वे आभास मात्र हैं। क्योंकि वे भी आभासिक जगत के अंग हैं जिसे हमें अपनी सीमित, अपूर्ण ज्ञान द्वारा जान पाते हैं। कुछ ईश्वरवादी यह भी मानते हैं कि अशुभ शुभ का अभाव है, इसकी भावात्मक स्थिति नहीं है। यह निषेधमात्र है शुभ का निषेध है। इसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार कुछ विद्वान 'दुर्व्यवस्था' को 'व्यवस्था को नहीं समझना' मानते हैं। इसी प्रकार 'अशुभ' भी 'पर्दे में छिपा हुआ शुभ' या छद्म रूप में शुभ ही है। वेदान्ती भी पारमार्थिक दृष्टि से इस व्यावहारिक जगत् को 'माया', 'भ्रम' या 'आभास' मानते हैं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से अशुभ की वास्तविक सत्ता नहीं है। उपरोक्त समाधान सही है या नहीं – यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु ये सभी समाधान अशुभ की समस्या का पर्याप्त निदान देते हैं– यह अलग बात है कि इन समाधानों को स्वीकार करने के बाद कई अन्य समस्याएँ उठती हैं जिनका निदान ढूंढ़ना पड़ेगा। किन्तु इन समाधानों को यदि आप मान लें तो अशुभ की समस्या आपके के लिए नहीं रहेगी।

(ब) अशुभ शुभ का अनिवार्य प्रतिपूरक (counterpart) है

कतिपय धर्म दार्शनिकों का कहना है कि यदि अशुभ न रहे तो शुभ का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। जिस प्रकार प्रकाश का महत्व सिर्फ इसलिए है कि विश्व में अन्धकार है, जिस प्रकार सौन्दर्य का महत्व इसलिए है

कि कुरूपता भी इस विश्व में है, उसी प्रकार शुभ का महत्व इसलिए है कि अशुभ का अस्तित्व है। अशुभ शुभ के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। संसार की हर वस्तु यदि शुभ होती है तो शुभ की परिभाषा देना असंभव होता। अशुभ शुभ का विरोध करता है तथा उसका महत्व बढ़ाता है। अशुभ के अभाव में शुभ का मूल्यांकन करना कठिन ही नहीं, असंभव हो जाता। इसलिए अशुभ, शुभ का आवश्यक पूरक है। सी० इ० एम० जोड के शब्दों में अशुभ शुभ के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना मनुष्य के लिए छाया जरूरी है। यद्यपि यह समाधान इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अशुभ की सत्ता क्यूँ है? किन्तु यह ईश्वर की शक्तिमत्ता को सीमित करता है। यदि ईश्वर शुभ की सृष्टि बिना अशुभ के नहीं कर सकता, तो इसका अर्थ है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है, असंभव को संभव भी कर सकता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ है ईश्वर तार्किक संभव कार्य ही कर सकता है। बिना अशुभ के शुभ की सृष्टि करना तार्किक रूप से असंभव है।

(स) अशुभ शुभ प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन है

कभी-कभी अशुभ के अस्तित्व का औचित्य इस आधार पर माना जाता है कि अशुभ शुभ प्राप्ति का अनिवार्य साधन है। शारीरिक पीड़ा तथा प्राकृतिक अशुभ जैसे बाढ़, सूखा का अस्तित्व नहीं होता तो मानव इन आपदाओं पर विजय किस प्रकार प्राप्त करता? यदि बीमारी नहीं होती तो उनसे बचने के लिए मानव दवाओं का अविष्कार नहीं कर पाता। बाढ़ से बचने के लिए बाँध बनाया जाता है, जिससे बिजली की उत्पत्ति होती है, लोगों को सिंचाई और कई सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अतः शुभ की उत्पत्ति में अशुभ अनिवार्य साधन का काम करती है। किन्तु अशुभ की समस्या का यह निदान ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवं शुभत्व पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। यदि शुभ की उत्पत्ति के लिए अशुभ का साधन रूप में प्रयोग करना जरूरी है तो यह धारणा ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को खंडित करती है।

(द) अशुभ-विहीन-विश्व से अशुभ युक्त कहीं अधिक अच्छा है

अशुभ की समस्या का यह निदान काफी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अशुभ का आंशिक अस्तित्व या उपस्थिति समग्र दृष्टि से पूरे विश्व के शुभत्व की वृद्धि करता है। यदि विश्व में अशुभ का अस्तित्व लेशमात्र भी नहीं रहता, विश्व में केवल शुभ ही शुभ रहता, तो वह उतना अच्छा नहीं होता जितना कि यह विश्व जिसमें शुभ के साथ अशुभ का भी अस्तित्व है। इस समाधान को दो प्रकार से विकसित किया जा सकता है। सौंदर्य शास्त्र में कुरूपता की पृष्ठभूमि में सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। भोंडे स्वर के पुट से कोई भी संगीत अधिक मधुर एवं सुरीला बन जाता है। उसी प्रकार अशुभ की उपस्थिति शुभत्व के महत्व को और भी बढ़ा देता है। द्वितीयतः यह कहा जाता सकता है कि उन्नति का मार्ग अशुभ की उपस्थिति से और भी प्रशस्त होता है। अशुभों पर क्रमिक रूप से विजय प्राप्त किया जाना श्रेयष्कर माना जाता है, विशेषकर उस स्थिति से, जहाँ निर्विध्न रूप से शुभ का साम्राज्य हो।

दोनों स्थितियों में अशुभ को भौतिक अशुभ के रूप में स्वीकार कर अशुभ की समस्या का समाधान किया गया है। ह्यूम ने भी अशुभ को दुःख एवं बीमारी का पर्याय माना था। ईश्वरवादियों ने इस समस्या का समाधान यह कहकर दिया है कि इस प्रकार के दुःख से 'सहानुभूति', 'शौर्य' 'धैर्य' शुभों की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिक एवं चिकित्सक इन दुःखों पर विजय प्राप्त करने के लिए नई-नई दवाओं का आविष्कार करते हैं। अशुभ की समस्या का यह निदान ईश्वर के शुभत्व एवं सर्वशक्तिमत्ता की रक्षा भी करता है। इस प्रकार के समाधान के पीछे यह भावना काम करती है कि यह विश्व सभी तार्किक संभावनाओं में सर्वश्रेष्ठ विश्व है। किन्तु इस समाधान के संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या शुभ और अशुभ एक दूसरे के सचमुच विरोधी हैं? यह स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि शुभ अशुभ की समाप्ति के लिये बाध्य नहीं दीखता। संत अगस्तीन का कहना है कि यह विश्व शुभ है, अर्थात् यह विश्व परम शुभ ईश्वर की रचना, शुभ उद्देश्य प्राप्ति के निमित्त हैं। उनके

17.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

अशुभ = शुभ का अभाव, दु:ख, पीड़ा, कष्ट आदि।

सर्वशक्तिमान = सब कुछ करने में समर्थ। असंभव कार्य को संभव कर दिखाना सर्वशक्तिमता का अर्थ नहीं। अपने स्वरूप के अनुसार तार्किक संभव कार्यों को करना ही सर्वशक्तिमान होता है।

17.5 अभ्यास के प्रश्न

17.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) अशुभ का अस्तित्व

(क) मानव द्वारा गलत विकल्प चुनने के कारण है

(ख) मानव द्वारा सही विकल्प चुनने के कारण है

(ग) मानव के निर्णय हीनता के कारण हैं

(घ) ईश्वर की इच्छा के कारण हैं।

उत्तर – (क)

17.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वरवादी अशुभ की समस्या का समाधान मानव को अशुभ के अस्तित्व के लिए जिम्मेदार बनाकर किस प्रकार करते हैं?

उत्तर – 17.2.1 (ई)

2. ईश्वरवादी किस प्रकार अशुभ का अस्तित्व शुभ के अस्तित्व के साथ मेल खाता दिखाते हैं?

उत्तर – 17.2.1 (ब) (स) (द)

17.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ईश्वरवादी किस प्रकार अशुभ के अस्तित्व का समाधान करते हैं?

उत्तर – 17.2.1

17.6 प्रस्तावित पाठ

1. एच० जे० मैकलोसकी : **''गॉड एन्ड इभ्लि' द फिलॉसोफिकल क्वाटरली, एप्रील 1960**

2. जे० एल० मैकी : **''इभ्लि एन्ड ओमनिपोटेन्स'' माइन्ड एप्रील 1955**

3. एच० डी ऐकन : **''गॉड एन्ड इभिल'' एथिक्स जनवरी 1958**

4. एल्विन प्लेन्टींगा : **''द फ्री विल डिफेन्स**

5. मैक्स ब्लैक (सम्पादित) : **फिलॉसफी इन अमेरिका, जार्ज एन्ड एलन**

6. मार्क पोन्टिफिक्स : **द क्वेस्चन ऑफ इभिल आई० रेम्से (सम्पादित) प्रॉस्पेक्ट्स फॉर मेटाफिजिक्स**

◆◆◆

आत्मा की अमरता के प्रमाण

पाठ-संरचना

18.0 उद्देश्य
18.1 विषय प्रवेश
18.2 मुख्य विषय
18.2.1 आत्मा की अमरता के प्रमाण : तात्विक युक्ति
18.2.2 नैतिक युक्ति
18.2.3 वैज्ञानिक युक्ति
18.2.4 अमरता के अन्य रूप
18.3 सारांश
18.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
18.5 अभ्यास के प्रश्न
18.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
18.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
18.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
18.6 प्रस्तावित पाठ

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का उद्देश्य आत्मा की अमरता का अर्थ समझाना है और आत्मा की अमरता के पक्ष में दिये गये विभिन्न प्रमाणों की संक्षिप्त व्याख्या करनी है।

18.1 विषय प्रवेश

ईश्वरवादी धर्म के दो प्रमुख आधार हैं : ईश्वर की सत्ता में निष्ठा एवं आत्मा की अमरता में विश्वास। आत्मा की अमरता में विश्वास करने वालों की संख्या, ईश्वर में विश्वास करने वालों की संख्या से अपेक्षाकृत अधिक है। विलियम जेम्स का कहना है कि आज के युग में बहुसंख्यक लोगों के लिए धर्म का अर्थ अमरता है और अन्य कुछ नहीं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी हार्दिक अभिलाषा रहती है कि मरने के बाद लोग उसे अवश्य याद करें। इस जगत् में सदा जीवन्त रहने की ईच्छा ही अमरता या अमरत्व प्राप्त करने की अभिलाषा है। इस जीवन का अन्त मृत्यु नहीं है। मरने के बाद भी मनुष्य किसी न किसी रूप में जीवित रहता है, यही अर्थ आत्मा की अमरता का है।

18.2 मुख्य विषय

आत्मा की अमरता से हम या तो मृत्यु के पश्चात् अदैहिक, शरीरविहीन अस्तित्व समझते हैं या आत्मा के निरन्तर बने रहने की अवस्था जिसे आत्मा का किसी अन्य रूप में अस्तित्ववान होना या पुनर्जन्म की संज्ञा दी जाती है। किन्तु हम किस प्रकार यह प्रमाणित कर सकते हैं कि मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है? धर्म चिन्तकों ने आत्मा की अमरता के पक्ष में कई युक्तियाँ दी हैं। किन्तु 'प्रमाण' या 'युक्ति' का यहाँ क्या अर्थ है, स्पष्ट कर लेना उचित होगा। यदि हम प्रमाण से निर्णायक सबूत समझते हैं तो आत्मा की अमरता के संबंध में इस प्रकार का निर्णायक साक्ष्य हमारी पहुँच के बाहर है। वैज्ञानिक सत्यों का आधार निरीक्षण एवं प्रयोग होता है, निरीक्षण एवं प्रयोग से सत्यापित सत्य अकाट्य होता है। वैज्ञानिक अर्थ में भी हम कोई भी युक्ति आत्मा की अमरता के पक्ष में प्रस्तुत नहीं कर सकते। किन्तु यद्यपि आत्मा की अमरता का इन्द्रियानुभूतिजन्य प्रमाण नहीं दिया जा सकता, फिर भी यदि प्रमाण का अर्थ तर्कपूर्ण विश्वास हो, तो आत्मा की अमरता के लिये प्रमाण दिया जा सकता है। यदि अस्तित्व सार्थक है तो मृत्यूपरान्त आत्मा के अस्तित्व को, आत्मा की अमरता के रूप में प्रमाणित किया जा सकता है।

18.2.1 आत्मा की अमरता के लिये प्रमाण : तात्विक युक्ति

तात्विक युक्ति भौतिक शरीर एवं अभौतिक आत्मा के भेद पर आधारित है। भौतिक शरीर और आत्मा में भेद करना सभ्यता के विकास के आदि काल से ही चला आ रहा है। पुरातन युग में मृत व्यक्ति के स्वप्न एवं स्मृति से इस प्रकार के भेद की उत्पत्ति हुई।

प्लेटो ऐसे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने सुव्यवस्थित रूप से शरीर व आत्मा के भेद को विकसित किया और आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने बताया कि यद्यपि शरीर इन्द्रियजन्य जगत् से संबंधित है और इस परिवर्तनीय और अस्थायी जगत् के स्वरूप का भागीदार है, बुद्धि या मन अपरिवर्तनीय, शाश्वत सत्ता से संबंधित है। इन सत्ताओं का ज्ञान हमें तब होता है जब हम विशिष्ट शुभ वस्तुओं के बारे में न सोच कर शुभत्व के बारे में सोचते हैं, न्यायोचित कर्मों के बारे में न सोच कर 'न्याय' के बारे में चिन्तन करते हैं और अन्य सामान्य एवं शाश्वत प्रत्ययों (Ideas) के बारे में चिन्तन करते हैं जिनमें भाग लेने के कारण भौतिक पदार्थों को अपनी विशिष्ट विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। इस उच्चत्तर और शाश्वतता या प्रत्ययों से संबंधित होने के कारण आत्मा अमर है।

प्लेटो आत्मा की अमरता के संबंध में एक दूसरा तर्क देते हैं कि किसी भी वस्तु का विनाश उसमें व्याप्त अशुभ या रोग के कारण होता है। आत्मा का रोग अन्याय या दुष्टता है। किन्तु दुष्ट व्यक्ति अत्यधिक चौकस और सक्रिय रहता है। यह रोग आत्मा को विनाश की ओर नहीं ले जाता है, अतः हम आत्मा के अनन्त अस्तित्व का निष्क्र्ष निष्पादित कर सकते हैं।

प्लेटो ने एक और तर्क दिया कि केवल उन्हीं वस्तुओं का विनाश होता है जो सावयव होते हैं। क्योंकि किसी वस्तु को विनाश या नष्ट करने का अर्थ है उस वस्तु को उसके विभिन्न अवयवों में रूपान्तरित कर देना। सभी भौतिक पदार्थ सावयवी होते हैं, किन्तु आत्मा सावयवी नहीं है, आत्मा सरल है, इसलिए यह अविनाशी और अमर है।

इस युक्ति को एक्वीनस ने भी अपनाया था, जैसा कि जैक्स मेरीटेन के निम्न उद्धरण से प्रमाणित होता है,

''आध्यात्मिक आत्मा दूषित नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें कुछ भी भौतिक नहीं, इसका विघटन नहीं हो सकता, क्योंकि इसका कोई घटक नहीं, इसकी एकता अक्षुण्ण रहती है, क्योंकि इसका स्वतंत्र अस्तित्व है और इसकी आन्तरिक ऊर्जा का भी ह्रास नहीं हो सकता, क्योंकि सभी ऊर्जाओं का यही स्रोत है। मानव आत्मा अमर

है, क्योंकि यह मर नहीं सकता। सदा इसका अस्तित्व बना रहता है, यह अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान है। महान तत्त्व मीमांसक एक्वीनस ने आत्मा की अमरता को प्रामाणिक ढंग से सिद्ध किया है। देकार्त के अनुयायी कार्टेसियन ने भी आत्मा की अमरता आत्मा के सरल एवं आध्यात्मिक स्वरूप के आधार पर की है। लाइबनीज ने भी आत्मा को चिह् विन्दु, 'मोनड' के रूप में अविनाशी माना है। मैक्टेगाट भी स्वसमरूप (self-identical), स्वत: पर्याप्त आत्मा को मानते हैं जिसमें परिवर्तन का कोई स्थान नहीं है अर्थात् आत्मा अमर है।

18.2.2 नैतिक युक्ति : आत्मा की अमरता के पक्ष में

काँट ने अपने क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रिजन में बताया है कि आत्मा की अमरता नैतिकता एवं प्रैक्टिकल रिजन की पूर्व मान्यता है। तार्किक बुद्धि आत्मा की अमरता प्रमाणित नहीं कर सकती है। किन्तु सर्वोच्च शुभ द्वारा उत्पन्न समस्या का समाधान आत्मा की अमरता को मान कर ही हो सकता है। नैतिक नियम हमें सर्वोच्च शुभ प्राप्ति का आदेश देता है, नैतिक आदेश हमें बाध्य करता है कि हम इस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति इसी जगत् में करें। नैतिक नियम के अनुसार संकल्प को पूर्णत: आत्मसात् करना पवित्रता है अर्थात् एक ऐसी अवस्था है जो इस इन्द्रियजन्य जगत् में प्राप्त नहीं की जा सकती है। 'पावन संकल्प' 'मानवीय संकल्प' जैसा नहीं है, जो प्रवृत्ति या क्षुधा द्वारा नैतिक नियम का उल्लंघन करने से प्रलोभित हो जाय। इस परम पावनता की प्राप्ति नैतिक नियम की अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु इसे इस भौतिक जीवन में पाना असम्भव है, अत: इसकी प्राप्ति की सम्भावना, एक भिन्न अभौतिक अस्तित्त्व की संभावना की माँग करती है, जिसमें संकल्प का नैतिक विकास पूर्णता प्राप्त कर सके। इस प्रकार, आत्मा की अमरता को मान लेने पर ही सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति की व्यावहारिक सम्भावना बनती है। 'आत्मा की अमरता' व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) की पूर्व मान्यता के रूप में नैतिक नियम से अवियोज्य रूप से सम्बन्धित है।

आत्मा की अमरता के पक्ष में एक और युक्ति इस तथ्य पर आधारित है कि 'चिंतन' 'स्मरण' 'कल्पना करना' सभी मानसिक क्रिया में दिक् एवं काल की सीमा से परे कार्य करती है। इससे यह निष्कर्ष निष्पादित होता है कि आत्मा की अपनी एक अलग जिन्दगी है जो इस भौतिक अवस्था से परे है। इसलिए शरीर के मृत होने के बाद भी आत्मा जीवित रहती है और आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

शरीर और आत्मा के भेद पर विश्वास रखते हुए, भगवद्गीता और भारतीय परम्परा में सांख्य दर्शन की धारणा है कि मृत्यु होने पर शरीर का नाश हो जाता है किन्तु आत्मा की सत्ता बनी रहती है। आत्मा अमर है। भारतीय दार्शनिक कर्म सिद्धांत मानते हैं। कर्म सिद्धांत ''जैसी करनी, वैसी भरनी, के नैतिक नियम में विश्वास करती है। हर मानव को अपने कर्म का फल भुगतना पड़ेगा। जो मौजूदा जीवन हम जी रहे हैं, वह पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का फ़ल भुगत रहे हैं। इसी प्रकार जो कर्म इस जीवन में कर रहे हैं, उसका फल हमें आने वाले जीवन में भुगतना पड़ेगा। यदि हम अच्छे कर्म करते हैं तो हमें सुखी जीवन की प्राप्ति होगी और यदि हम बुरा कर्म करते हैं तो उसका फल भी हमें भुगतना पड़ेगा। हमें बुरे कर्मों की सजा भुगतनी पड़ेगी। ऐसा तभी संभव है जब हम आत्मा की अमरता में विश्वास करें। कर्म का सिद्धांत इस प्रकार आत्मा की अमरता की मान्यता पर आधारित है। इस प्रकार कर्म का नियम आत्मा की अमरता को प्रमाणित करता है।

18.2.3 आत्मा की अमरता के पक्ष में कुछ वैज्ञानिक तथ्य

विज्ञान का एक नियम है शक्ति नित्यता नियम। इस नियम के अनुसार विश्व में शक्ति की मात्रा सदा एक समान रहती है। शक्ति की मात्रा स्थिर है, उसमें न कमी हो सकती है और न अधिकता। शक्ति का रूप बदलता है। दो प्रकार की शक्ति होती है : (1) संभाव्य शक्ति (Potential energy) और (2) गत्यात्मक शक्ति (kinetic energy)। संभाव्य शक्ति का रूप गत्यात्मक शक्ति में बदल सकता है किन्तु शक्ति का ह्रास कभी नहीं होता है। आत्मा भी एक शक्ति है। अत: आत्मा का रूप भले ही बदले, किन्तु इसकी सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है। अत: इस नियम के आधार पर आत्मा की अमरता के पक्ष में तर्क दिया जा सकता है। आज के युग में परा मनोविज्ञान अपनी खोजों के आधार पर आत्मा की अमरता के पक्ष में साक्ष्य उपस्थित कर रहा

है। छोटे-छोटे बच्चों ने अपने पूर्व जन्म की बातों के संबंध में ऐसे-ऐसे तथ्य उजागर किये हैं जो मृत व्यक्ति ही जानता था और जिसे सत्यापित किया जा सका है। डॉ० स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक ''टुवेन्टी केसेज ऑफ रिइन्कार्नेशन'' में पुनर्जन्म के उदाहरणों को वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित किया है। इस प्रकार की खोजों से यह प्रमाणित होता है कि मृत्यूपरान्त आत्मा किसी न किसी रूप में अवश्य अस्तित्ववान रहती है।

हमलोगों ने आत्मा की अमरता प्रमाणित करने के लिए कई युक्तियों का श्रेय लिया है, जिसमें मृत्यूपरान्त आत्मा के अस्तित्व की सत्ता बनी रहती है, प्रमाणित किया गया है अथवा आत्मा किसी अन्य रूप में पुनः जन्म लेती है और आत्मा का अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। कई धर्मचिन्तकों ने ईश्वरीय सत्ता में आत्मा को विलीन कर देने को अमरत्व की संज्ञा दी है। जब हम ईश्वरीय सत्ता में अपनी सत्ता को लय कर देते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि आत्मा अपनी कालिक सत्ता को शाश्वत सत्ता में विलीन कर देती है अर्थात् आत्मा का अपना कालिक स्वरूप नहीं रहता, उसका शाश्वत रूप निखर आता है। इस प्रकार की सभी धारणाओं में यह धारणा निहित है कि मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा की सत्ता बनी रहती है।

18.2.4 अमरता के अन्य रूप

कतिपय विद्वानों की दृष्टि में उपरोक्त वर्णित किसी भी रूप में अमरता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उनका प्रस्ताव है कि हमलोगों को आत्मा की अमरता संबंधी भावनाओं को निम्न प्रकार के अवास्तविक उत्तरजीवी के रूप में सन्तोष कर लेना चाहिए। मरने के बाद निम्न रूप में जीवित रहना अधिक वास्तविक है।

(1) **जैविक अमरता :** हमलोग अपनी संतानों के माध्यम से अमर रहते हैं, क्योंकि हमारा कुछ अंश उनमें हमारे मरने के बाद भी जीवित रहता है। बर्गसन ने इस प्रकार की जैविक अमरता की व्याख्या की है।

(2) **सामाजिक अमरता :** सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव कुछ ऐसा काम कर बैठता है जिससे उसके मरने बाद भी समाज उन्हें श्रद्धापूर्वक याद करता है। हमलोग आने वाली पीढ़ी पर अपनी छाप या असर के माध्यम से अमर होते हैं।

(3) **आदर्श अमरता :** यह एक विशिष्ट प्रकार का कालातीत अस्तित्व है जिसकी अनुभूति हमें किसी ऐसी आध्यात्मिक कार्य में होती है, जिसमें समय का ज्ञान ही नहीं रह पाता। हमारा ध्यान किसी ऐसे विषय पर केन्द्रित रहता है जो स्वयं कालातीत होता है। जार्ज सन्तायना ने इस प्रकार की अमरता की व्याख्या सुन्दर ढंग से की है। 'कोई भी आदमी पूर्ण रूपेण अमर नहीं होता, जिस प्रकार कोई भी दर्शन पूर्ण सत्य नहीं होता, कोई भी भाषा पूर्णतः बोधगम्य नहीं होती, किन्तु जिस सीमा तक भाषा बोधगम्य होती है, उसी सीमा तक वह भाषा, भाषा है,.........जिस सीमा तक दर्शन सत्य है, दर्शन दर्शन है और मानव जहाँ तक बौद्धिक है और जहाँ तक अमर है, उसी सीमा तक मानव, मानव है........ ।

18.3 सारांश

आत्मा की अमरता उस धारणा को कहते हैं जिसके अनुभार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी व्यक्ति अस्तित्वमान रहता है। मृत्यु होने पर आदमी का अस्तित्व नहीं रहता है अर्थात् उसका वस्तुगत अस्तित्व नहीं रहता। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि आदमी अपनी दृष्टि में भी अस्तित्वहीन हो जाता है, गलत होगा। आदमी का आत्मिक अस्तित्व हो सकता है। मृत्यूपरान्त अस्तित्व में बने रहना तार्किक दृष्टि से संभव नहीं है। आत्मा की अमरता को प्रमाणित करने के तीन आधार हो सकते हैं। पहला आधार यह हो सकता है कि हम ऐसे वास्तविक उदाहरणों को पेश करें जिससे मृत्यूपरान्त भी मानव का अस्तित्व प्रमाणित होता हो। परामनोविज्ञान इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। दूसरा आधार आत्मा के तात्विक स्वरूप की ओर ध्यानाकर्षित कर आत्मा को अविनाशी और अमर सिद्ध किया जा सकता है। तीसरा आधार नैतिकता की अनिवार्य आवश्यकताओं

को बता कर आत्मा की अमरता को प्रमाणित किया जा सकता है। तात्विक विवेचन यह प्रमाणित करता है कि मानव की बौद्धिक आत्मा का आन्तरिक स्वरूप ही अविनाशी है। प्लेटो ने बताया कि आत्मा बिल्कुल सरल है, अत: इसका विनाश हो ही नहीं सकता। कान्ट ने बताया कि नैतिक जीवन के लिये आत्मा की अमरता को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। नैतिक नियमों के प्रति कटिबद्ध होने का अर्थ है कि हम नैतिक नियमों की सत्यता पर शंका नहीं कर सकते। यदि हम नैतिक नियम का सम्मान करते हैं तो हमें विश्वास करना पड़ेगा कि शुभ संकल्प के नैतिक आदर्श को प्राप्त करने के लिए एक ही जीवन पर्याप्त नहीं है अर्थात् आत्मा की अमरता को स्वीकार करना ही पड़ेगा–मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

18.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

अमर = जो मरे नहीं। **आत्मा की अमरता** = शरीर के नहीं रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहे।

आदेश = हुक्म जिसे टाला नहीं जा सके

18.5 अभ्यास के प्रश्न

18.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) आत्मा की अमरता का अर्थ है

(क) किसी न किसी रूप में आत्मा का निरन्तर अस्तित्व

(ख) मृत्यूपरान्त आत्मा का अशरीरी अस्तित्व

(ग) आत्मा का अन्तहीन अस्तित्व

(घ) उपरोक्त सभी।

उत्तर – (घ)

18.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्लेटो ने किस प्रकार आत्मा की अमरता को प्रमाणित किया?

उत्तर – 18.2.1

2. कान्ट से किस प्रकार आत्मा की अमरता को प्रमाणित किया?

उत्तर – 18.2.2

18.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आत्मा की अमरता प्रमाणित करने के लिए विभिन्न युक्तियों से अपना परिचय दिखाएँ।

उत्तर – 18.2

18.6 प्रस्तावित पाठ

1. जी० मैकतग्रिगॉर : **इन्ट्रोडक्शन टू रिलिजियस फिलॉसफी**

2. ए० सेठ प्रीगंलेपैटिसन : **द आइडिया ऑफ इम्मोर्टेलिटी क्लेरेंडन प्रेस, 1922, लेक्चर-VIII**

3. आई० टी० रैम्जे : **फ्रीडम एन्ड इमोर्टलिटी एस0 सी0 एम प्रेस 1957**

4. हिब्बर्ट जर्नल, vol. 59 (1959-61) पृ० 227-237 इ० एल एलन द्वारा लिखित निबंध : **इमोर्टेलिटी ऑफ सोल**

◆◆◆

इकाई 19

धर्मों की एकता

पाठ-संरचना

19.0 उद्देश्य
19.1 विषय प्रवेश
19.2 मुख्य विषय
- 19.2.1 धर्मों की एकता : सारभूत एकता
- 19.2.2 धर्मों की एकता : एक ऐसा धर्म जिसमें सभी धर्मों का समावेश हो
- 19.2.3 धर्मों की एकता : सर्वधर्म समन्वय

19.3 सारांश
19.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
19.5 अभ्यास के प्रश्न
- 19.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
- 19.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 19.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

19.6 प्रस्तावित पाठ

19.0 उद्देश्य

धर्म अनेक हैं और हर धर्म की अपनी विशिष्टता है। किन्तु विभिन्न धर्म एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी कुछ मूल बातों में एक जैसे ही हैं। विभिन्न धर्मों के बीच जो एकता है, उसी मूलभूत एकता पर इस पाठ में विचार किया गया है।

19.1 विषय प्रवेश

हाल में हुए वैज्ञानिक खोजों के कारण हम अब एक दूसरे से बहुत ही निकट आ गये हैं। हमलोग कम्प्यूटर युग में प्रवेश कर चुके हैं। दिक् और काल पर हम सचमुच विजय पा चुके हैं। जाति, वर्ग, रंग या धर्म से संबंधित संकीर्ण दृष्टिकोण से ऊपर उठकर पूरे विश्व को एक महापरिवार के रूप में समझना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हमें एक व्यापक सामाजिक व्यवस्था का अंग बनना है जहाँ किसी प्रकार का भेद-भाव, धार्मिक असहिष्णुता की गुंजाइश नहीं हो। इसी संदर्भ में धर्मों के बीच व्यापक एकता की स्थापना महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस दिशा में प्रगति करने के लिए विभिन्न धर्मों को उचित रूप से सही-सही समझना एवं उसमें व्याप्त एकता को हृदयंगम करना जरूरी है।

19.2 मुख्य विषय

धर्म को अंग्रेजी भाषा में 'रिलिजन' कहा जाता है जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है पुनः बाँधना अर्थात् धर्म का उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में बाँधना है। धर्म सभी मनुष्यों को एक दूसरे से जोड़ता है और अंततः ईश्वर से जोड़ता है। विश्व में अनेक धर्म हैं और हर धर्म की अपनी विशिष्टता है। अपनी विशिष्टता के कारण एक धर्म दूसरे धर्म से अलग माना जाता है जैसे इसाई धर्म प्रेम का धर्म, इस्लाम धर्म समर्पण का धर्म माना जाता है। किन्तु इन विशिष्टताओं के बावजूद विभिन्न धर्मों में समानता भी पाई जाती है। ऋग्वेद में कहा गया है 'एकंसद् विप्राः बहुधा वदन्ति' अर्थात् एक ही सत् है, किन्तु विद्वान पुरुष उन्हें अनेक के रूप में परिभाषित करते हैं। इसी लहजे में हम कह सकते हैं कि मूलतः धर्म एक है, किन्तु मानव इस एक सद्धर्म को विभिन्न प्रकार से समझने का प्रयास करता है। विभिन्न धर्म एक दूसरे से भिन्न अपने उपदेशों एवं मतों के कारण दिखते हैं किन्तु जहाँ तक मूल तत्त्व का सवाल है, सभी धर्म एक ही हैं। इस पाठ का मुख्य विषय 'धर्मों की एकता है'। 'एकता' पद को 'एक होना', 'एक सूत्र में बाँधना' अथवा 'सामंजस्य संबंध' के अर्थ में समझा जा सकता है। तदनुसार 'धर्मों की एकता' को तीन दृष्टि से समझा जा सकता है।

(1) एक अर्थ में विभिन्न धर्मों के ऐक्य को दिखाकर उनकी एकता की व्याख्या की जा सकती है।

(2) दूसरे अर्थ में, विभिन्न धर्मों को एक मानते हुए, उनको मिला जुला कर पूरी मानवता के लिए एक ही सर्वव्यापक धर्म के रूप में धर्मों की एकता प्रस्थापित की जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक प्रमुख धर्म को सर्वव्यापी धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर धर्मों की एकता प्रस्थापित करें

(3) तीसरे अर्थ में विभिन्न धर्मों में सामजंस्य दिखाते हुए 'सर्वधर्म समन्वय' के रूप में धर्मों की एकता को प्रस्थापित करें।

19.2.1 धर्मों की एकता : विभिन्न धर्मों में एकता :

डा० भगवान दास ऐसे पहले विचारक हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक 'एसेन्सियल युनीटी ऑफ ऑल रिलिजन्स' में सभी धर्मों के ऐक्य होने का साक्ष्य प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में उन्होंने बाइबिल, कुरान, वेद, भगवद्गीता जैसे अनेक धर्मग्रन्थों से प्रचुरता से उद्धरण उद्धृत करके उनमें मूलभूत सारतत्त्वों में ऐक्य दिखाने का प्रयास किया है। उन्होंने सभी धर्मों का विश्लेषण करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनके मूलभूत सिद्धांतों में गहरी समानता है। विभिन्न धर्म ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों में इतनी आश्चर्यजनक समानता है कि कई बातों में विभिन्न धर्म एक दूसरे की प्रतिलिपि जैसे लगते हैं। डा० भगवान दास की मान्यता है कि मूलभूत सार तत्त्व सभी धर्मों का एक ही है। विभिन्न धर्मों में काल, स्थान, संस्कृति, परम्परा के कारण उनकी आस्थाओं, रीति-रिवाजों एवं पूजा-अर्जना की विधियों में भेद दिखता है। ये भेद धर्म के मूल तत्त्व में नहीं है बल्कि धर्म के अप्रधान विषयों में है। डा० भगवान दास के अनुसार किसी भी धर्म-विशेष को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। धर्मों की इस परिहार्यता से दो निष्कर्ष स्थापित किये जा सकते हैं :–

(क) सभी धर्मों को असत्य मान कर सबों का निराकरण अर्थात् त्याग करना।

(ख) सभी धर्मों को आंशिक रूप से सत्य मान कर उन्हें स्वीकार करना। डा० दास दोनों निष्कर्षों को अव्यावहारिक मानते हैं। इसलिये उनके अनुसार धर्मों के आकस्मिक गुणों को हटा कर, उनके सार या मूल तत्त्व को ही खोज निकालना चाहिए। उसी को मूलतत्त्व समझना चाहिए जो अधिकतम धर्मों में पाया जाय या जो सभी धर्मों में स्पष्ट रूप से विद्यमान हो। इस कसौटी पर उन्होंने अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया और उनके आधार पर दिखाया कि सभी धर्मग्रन्थों में एक ही ईश्वर, एक ही सत्यता और एक ही धर्म पर जोर देते हैं। डा० भगवान

दास ने अनेक उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्ष स्थापित किया है कि 'सत्य सर्वव्यापक होता है, इस पर किसी जाति या गुरु का एकाधिपत्य नहीं होता। सामान्य मूल सत्यों को ईश्वर ने विभिन्न धर्म ग्रन्थों में विभिन्न भाषाओं में, विभिन्न जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों के द्वारा प्रकाशित किया है। डा० दास ने विभिन्न धर्मों में एकता स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। विभिन्न धर्मों की सार बातों को एक स्थान पर उपस्थित कर वह यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि सभी धर्म मूलतः एक ही हैं। यदि हम सही ढंग से विभिन्न धर्मों को समझने का प्रयास करें तो विभिन्न धर्मों में जो खाई दिखती है वह समाप्त हो जायगी और विभिन्न धर्मों के अनुसरण करने वालों के बीच सौहार्द और प्रेम का विकास होगा और धर्मों के बीच स्थायी शान्ति की स्थापना संभव हो सकेगी।

19.2.2 एक सर्वव्यापी धर्म के रूप में धर्मों की एकता की धारणा

विभिन्न धर्मों के सामान्य लक्षणों के आधार पर उन्हें एक सूत्र में बाँधकर एक सर्वव्यापी (all-comprehensive) धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे ही पूरी मानव जाति के लिए एकमात्र धर्म घोषित करने का प्रयास भी विभिन्न धर्मों में एकता स्थापित करने का प्रयास कहा जा सकता है। इतिहास इस तरह के प्रयास का साक्षी है कि सम्राट अकबर ने अपने शासनकाल में विभिन्न धर्म पंडितों एवं धर्म चिंतकों की सभा बुलाकर सभी के लिए 'दीन इलाही' धर्म को कार्यान्वित किया। इतिहास इस बात का भी गवाह है कि यह प्रयास विफल हुआ। विभिन्न धर्मों को मिलाकर एक धर्म जो सभी के लिये मान्य हो, एक अव्यावहारिक प्रस्ताव है-ऐसा डा० भगवान दास की भी मान्यता थी। पूरी मानव जाति के लिए एक ही धर्म की धारणा स्वामी विवेकानन्द को भी मान्य नहीं थी। उनका कहना है कि 'वह बड़े ही दुर्भाग्य का दिन होगा जब पूरी मानव जाति को एक ही धर्म को स्वीकार करना पड़े, एक ही पूजा और प्रार्थना की पद्धति अपनानी पड़े। वह दिन सभी धर्मों के लिए एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिए मृत्यु दिवस होगा।' विविधता जीवन की निशानी है।

डा० राधाकृष्णन का एक सुझाव यह भी है कि विभिन्न उत्कृष्ट धर्मों में से किसी एक धर्म को सभी व्यक्तियों के लिए मान्य बनाना अधिक उचित है बनिस्पत विभिन्न धर्मों को मिलाकर एक धर्म के रूप में प्रस्थापित किया जाय। इस दिशा में वे हिन्दू धर्म को एक ऐसे आदर्श धर्म के रूप में प्रस्थापित करना चाहेंगे। कुछ विद्वान इसाई धर्म को आदर्श मानते हैं किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार हिन्दू धर्म में सभी विशिष्ट गुण हैं जो एक विश्वव्यापी धर्म में होना चाहिए। हिन्दू धर्म संकीणता से ऊपर है। यह सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखता है हिन्दू धर्म सभी धर्मग्रन्थों को सम्मान देता है, किसी एक धर्म पद्वति से जुड़ा हुआ भी नहीं। यह उदारवादी धर्म है और लचीला भी है। काल के उतार-चढ़ाव का इस धर्म पर कोई असर नहीं हुआ है। इसमें सभी धर्मों को आत्मसात् कर लेने का सामर्थ्य है। सभी धर्मों को सत्य का प्रकाश मानता है। गुलाब कहीं भी हो सुगन्ध फैलाना ही उसका स्वभाव है। इसी प्रकार कोई भी धर्म क्यों न हो, सत्य का उद्घाटन उसका अभीष्ट है। यद्यपि हिन्दू धर्म में इतनी विशिष्टता है, फिर भी इसे एकमात्र आदर्श धर्म के रूप में प्रस्थापित करना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह उस विवाद का करण हो जायगा कि कोई अन्य धर्म क्यों नहीं आदर्श धर्म के रूप में प्रस्थापित किया जा सकता।

19.2.3 सर्वधर्म-समन्वय के रूप में धर्मों की एकता

स्वामी विवेकानन्द की यह धारणा स्तुत्य है कि किसी एक धर्म को अथवा विभिन्न धर्मों के समान गुणों को मिला कर एक ही धर्म सभी के लिए मान्य हो, उचित है। उन्होंने स्वीकार किया है कि इस तरह के चिन्तन की प्रेरणा उन्हें अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस से मिली। स्वामी रामकृष्ण परमहंस का सदा से उदारवादी दृष्टिकोण रहा है। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि उन्हें इस विस्मयात्मक तथ्य का ज्ञान अपने गुरु से मिला जिन्होंने बताया कि विश्व में जितने भी धर्म हैं वे एक दूसरे के व्याघातक या विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे के परिपूरक हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामी विवेकानन्द विभिन्न धर्मों के संघ (Federation) के पक्षधर थे जिसमें विशिष्ट धर्मों को एक साथ रहने की, इजाजत दी जाती है, विभिन्न धर्मों को सहन

(tolerate) किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों को सहन करना उनकी दृष्टि में निंदनीय है, अधर्म है। यह सत्य नहीं है कि विभिन्न धर्मों को रहने की इजाजत देकर हम उनपर कोई उपकार करते हैं। सभी धर्मों को सत्य मानने का अर्थ है कि हम उस धर्म को मन, बुद्धि, एवं हृदय से स्वीकार करते हैं। सभी धर्मों का सम्मानजनक स्थान है। उनमें सामंजस्य है, वे एक साथ सम्मानपूर्वक रह सकते हैं। महात्मा गाँधी का भी यही विचार है। उनकी यह उक्ति ''मैं जैसे गीता में विश्वास करता हूँ, वैसे ही बाइबिल में भी। मैं संसार के सारे महान धर्मों को अपने धर्म की तरह सत्य मानता हूँ। धर्मों की एकता के संबंध में गाँधी का यह विचार विभिन्न धर्मों की सहस्थिति, सामंजस्यपूर्ण सम्मानजनक स्थिति का घोतक है। स्वामी विवेकानन्द का यह उद्‌गार भी इसी धारणा को व्यक्त करता है जब वे कहते हैं कि 'मैं उन सभी धर्मों को मानता हूँ जो पूर्व से ही चले आ रहे हैं और मैं इन सबके साथ पूजा-अर्चना करता हूँ। मैं उन लोगों के साथ ही उसी रूप में ईश्वर की उपासना करता हूँ जिस रूप में वे ईश्वर की उपासना करते हैं। शाश्वत काल से एक ही अनन्त धर्म विद्यमान है और विद्यमान रहेगा। यही धर्म विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इसी दृष्टि को अपनाने से हमें इस बात की असली खुशी होगी, इस जगत् में इतने प्रकार के धर्म प्रस्फुटित हुए हैं। ईश्वर की यह व्यवस्था महान् और गौरवमय है। ईश-प्राप्ति सभी धर्मों का लक्ष्य है। सभी मार्ग, सभी पथ उसी लक्ष्य की ओर जाता है। यह सत्य है कि ईश्वर सभी धर्मों का केन्द्र बिन्दु है और इस केन्द्र पर पहुँचने के लिए विभिन्न त्रिज्याएँ (radii) विभिन्न धर्मों के रूप में अवस्थित है। हम किसी भी पथ से जायें उसी केन्द्र बिन्दु पर पहुँचेंगे। वहाँ पहुँच कर हमारी सारी विभिन्नता, सारा मत-भेद समाप्त हो जायगा। स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्मों की एकता का यही सार है।

डाक्टर राधाकृष्णन ने भी अपनी पुस्तक 'इस्टर्नरिलिजन एन्ड वेस्टर्न थौट' में धर्मों की एकता पर अपने विचार 'मिटींग्स ऑफ रिलिजन्स' शीर्षक अध्याय में स्पष्ट किया है। उन्होंने भी यह दिखाने का प्रयास किया है कि सभी धर्म मूलतः एक है। अपनी पुस्तक 'रिकभरी ऑफ फेथ' में बताया है कि धर्मों के बीच भेद महत्वपूर्ण इसलिए मालूम पड़ते हैं कि हम अपने धर्मों के मूल सत्य के बारे में जानकारी नहीं रखते। सभी धर्मों में सामान्य तत्त्व निहित है। अपनी पुस्तक 'इस्ट एन्ड वेस्ट इन रिलिजन' में कहते हैं कि 'विभिन्न धर्म सहयोगी की तरह सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में निमग्न हैं।' सभी धर्म एक ही सत्य का स्पष्टीकरण करते हैं। ईश्वर ही सभी धर्मों का केन्द्र-विन्दु है। सभी धर्म उपासना पर जोर देता है। उपासना की विधियों में यद्यपि भेद होता है, फिर भी मूलतः सभी एक ही हैं क्योंकि विभिन्न उपासना पद्धतियां ईश्वर की ही उपासना है। 'सभी सच्ची उपासना 'सभी सच्ची उपासना उस परम सत्ता की उपासना है जो मानव की हर उस पुकार का प्रत्युत्तर देता है जो अपहुँच ऊँचाइयों तक पहुँचने की पुकार है। विश्व में जितने भी धर्म हैं वे सभी उसी सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। सभी धर्म पूज्य है। कोई भी धर्म बड़ा या छोटा नहीं होता। सभी धर्म गतिशील है, सभी धर्म उस परम सत्य की प्राप्ति के लिए अग्रसर है, प्रयत्नशील है। 'किसी भी धर्म को अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता। विभिन्न धर्मों का उपयोग मकान के पत्थरों की तरह होना चाहिए ताकि मानव संस्कृति का विकास हो सके जिसमें विभिन्न धर्मावलम्बी एक दूसरे के साथ उस परम पिता के सपूतों की तरह एक दूसरे से भाइयों की तरह मिल-जुल कर रहें, धर्म निष्ठा का विषय है। सभी को एक दूसरे की निष्ठा का आदर करना चाहिए। यदि हम एक दूसरे की निष्ठा का समादर नहीं करें तो आपसी कलह के कारण, अपनी निष्ठा का भी पालन नहीं कर पायेंगे। अतः अपनी अज्ञोनता को दूर कर, विभिन्न धर्मों के प्रति पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर, उन्हें सही रूप में समझकर सर्वधर्म-समन्वय के रूप में धर्मों की एकता स्थापित करें।

19.3 सारांश

विभिन्न धर्मों का विश्लेषण कर उनके बीच मुख्य बातों में ऐक्य दिखा कर धर्मों की एकता दिखाया जा सकती है। डा० भगवान दास ने विद्वत्ता, पूर्णता के साथ विभिन्न धर्मग्रन्थों से उद्धरणों का हवाला देते हुए यह

दिखाने का प्रयास किया है कि उनमें मूल बातों में गहरी समानता है। विभिन्न धर्मों में भेद अप्रधान बातों में है जिसे आसानी से त्याग दिया जा सकता है। विभिन्न धर्मों में मिलते-जुलते तथ्यों को मिला जुला कर एक सर्वमान्य, सर्वव्यापी धर्म के रूप में धर्मों की एकता के रूप में प्रस्थापित करना, अव्यावहारिक प्रयास होगा। 'दीन इलाही' के रूप में इसी तरह का धर्म सम्राट अकबर ने पूरी जनता के लिए चलाया था जो विफल रहा। इसी तरह किसी एक धर्म को चुनकर उसे सभी के लिए मान्य बनाना भी उचित नहीं होगा। डा० राधाकृष्णन ने हिन्दूधर्म की विभिन्न विशेषताओं की चर्चा करते हुए यह बताने की चेष्टा की है कि हिन्दू-धर्म उदारवादी, सहिष्णु एवं लचीला होने के लिए विश्वव्यापी धर्म बनने के लिए उपयुक्त है। किन्तु ऐसा करना अन्य धर्मों के साथ अन्याय होगा और एक आपसी कलह को जन्म देगा। अत: इस प्रकार की 'धर्मों की एकता' अग्राह्य है। स्वामी विवेकानन्द ने भी विभिन्न धर्मों को मिलाकर 'एक धर्म' की स्थापना को दुर्भाग्यपूर्ण बतलाया है। विवेकानन्द ने हर धर्म को एक साथ फलने-फूलने की कामना की है। उनकी दृष्टि में विश्व में अनेक धर्मों का होना ईश्वर की महिमा का द्योतक है। उस परम ईश्वर की प्राप्ति के अनेक मार्ग हो सकते हैं, वे एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही लक्ष्य की प्राप्ति में निमग्न हैं। लक्ष्य प्राप्ति के बाद उनमें कोई भेद नहीं रहेगा और सभी धर्म समन्वित रूप से प्रस्फुटित होकर आपसी सौहार्द की स्थापना कर सकेंगे। डा० राधाकृष्णन ने भी विभिन्न धर्मों एकता की चर्चा की है और सर्वधर्म समन्वय की परिकल्पना को धर्मों की एकता की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में अज्ञानता के कारण हम विभिन्न धर्मों की को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं। धर्मनिष्ठा का विषय है। हर धर्म को दूसरों की निष्ठा का आदर करना चाहिए। जब हमारी अज्ञानता दूर हो जायगी और हर धर्म को सही ढंग से समझने लगेंगे तो विभिन्न धर्मों में भेद समाप्त हो जायगा और हम उस परम ईश्वर की सन्तान की तरह आपस में भाई-भाई की तरह रह सकेंगे।

19.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

मूल तथ्यों में एकता को धर्मों की एकता कहते हैं।

विभिन्न धर्मों के बीच सामंजस्य या मधुर संबंध भी धर्मों की एकता का अभिप्राय है।

19.5 अभ्यास के प्रश्न

19.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) धर्मों की एकता का अर्थ है

(क) विभिन्न धर्मों में समानता

(ख) विभिन्न धर्मों में मतैक्य का अभाव

(ग) धर्मों का संघ

(घ) मूल तथ्यों में धर्मों का एक होना।

उत्तर – (घ)

19.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. डा0 भगवान दास के अनुसार धर्मों की एकता की व्याख्या करें।

उत्तर – 19.2.1

2. विवेकानन्द एवं राधाकृष्णन के धर्म की एकता संबंधी विचारों का उल्लेख करें।

उत्तर – 19.2.3

19.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. धर्मों की एकता के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या करें।
   उत्तर – 19.2

19.6 प्रस्तावित पाठ

1. डा० भगवान दास : एसेन्सियल युनीटी ऑफ रिलिजन्स
2. डा० एस० राधाकृष्णन : इस्टर्न रिलिजन एन्ड वेस्टर्न थौट
3. डा० एस० राधाकृष्णन : रिकॉभरी ऑफ फेथ
4. डा० एस० राधाकृष्णन : रिलिजन एन्ड सोसायटी
5. डा० एस० राधाकृष्णन : इस्ट एन्ड वेस्ट इन रिलिजन

◆◆◆

धर्म-परिवर्तन तथा धर्म-निरपेक्षतावाद

पाठ-संरचना

20 धर्म परिवर्त्तन

20.0 उद्देश्य
20.1 विषय प्रवेश
20.2 मुख्य विषय
20.2.1 धर्म-परिवर्तन के निर्धारक
20.2.2 धर्म-परिवर्तन के प्रकार
20.3 सारांश

20 (क) धर्म निरपेक्षतावाद

20क.0 उद्देश्य
20ग.1 विषय प्रवेश
20ग.2 मुख्य विषय
20क.2.1 हलौकिकतावाद के रूप में
20क.2.2 सभी धर्मों का सह-अस्तित्त्व के रूप में
20क.2.3 धर्मों के प्रति-उदासीनता के रूप में
20क.3 सारांश

20.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
20.5 अभ्यास के प्रश्न
20.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
20.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
20.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
20.6 प्रस्तावित पाठ

20.0 उद्देश्य

'धर्म-परिवर्तन' पद अनेकार्थक है। इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। इस पाठ का उद्देश्य 'धर्म-परिवर्तन' का अर्थ स्पष्ट करना है। जिन विभिन्न अर्थों में इसका प्रयोग होता है, उसकी समीक्षा करना एवं उससे जुड़ी समस्याओं की समीक्षा भी करना है।

20.1 विषय प्रवेश

शब्द कोष के अनुसार धर्म-परिवर्तन का अर्थ 'एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन' है। इसका अनिवार्य अर्थ अपने धर्म का त्याग कर दूसरा धर्म अपनाना नहीं है, यदि धर्म-परिवर्तन भी इसके विभिन्न अर्थों में एक है। कनभर्सन या धर्म-परिवर्तन का अर्थ 'मन-परिवर्तन', 'हृदय-परिवर्तन', 'जीवन-परिवर्तन' भी होता है। 'धर्म' मानव की स्वाभाविक वृत्ति है। हर व्यक्ति अपने जीवन में धर्म के द्वारा पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास

करता है। जब वह अपने आदर्श को प्राप्त करने में सफल हो जाता है तो उसका जीवन-परिवर्तन हो जाता है। जब गौतम बुद्ध को महाबोधिवृक्ष के नीचे 'ज्ञान' की प्राप्ति हुई तो उनका जीवन ही बदल गया। महर्षि वाल्मीकि, संतपाल को भी दिव्य ज्योति का दर्शन राम और ईसा के रूप में होने पर उनकी जीवन शैली ही बदल गई।

20.2 मुख्य विषय

सामान्य रूप से कनभर्सन व्यक्ति की वह समाकलन-प्रक्रिया है जिसके आधार पर अव्यवस्थित से व्यवस्थित जीवन प्राप्त होता है, जिस व्यवस्था के कारण व्यक्ति में निहित सभी पाशविक वृत्तियाँ उदात्त रूप ले लेती हैं और व्यक्ति उर्ध्व दिशा में अनुप्राणित हो जाता, वही अतीत शक्ति के आह्वान को सुन कर, उसके अनुरूप किसी चरम लक्ष्य की ओर अनुप्रेरित हो जाता है। इस जीवन परिवर्तन में दो बातें उल्लेखनीय हैं मानव में स्वतंत्र इच्छा है और अपनी स्वतंत्र इच्छा का उपयोग कर चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मानव को जीवन-परिवर्तन का जन्मसिद्ध अधिकार है। यह परिवर्तन जीवन के किसी भी क्षेत्र में संभव है, किन्तु धर्म के क्षेत्र में इसे उग्र रूप में उत्कृष्ट रीति से पाया जाता है, इसलिए कनभर्सन को धर्म-परिवर्तन समझा जाता है। कनभर्सन हठात् हो सकता है, क्रमिक भी हो सकता है। कनभर्सन किसी विशेष धर्म की थाती नहीं है। किसी भी धर्म में धर्म-परिवर्तन पाया जा सकता है। धर्म-परिवर्तन के संबंध में दो बातें विचार करने के योग्य है : (1) धर्म परिवर्तन के निर्धारक क्या हैं? (2) धर्म-परिवर्तन के विभिन्न प्रकार क्या हैं?

20.2.1 धर्म-परिवर्तन के निर्धारक

धर्म-परिवर्तन के दृष्टान्तों के आधार पर निम्नलिखित घटकों को धर्म-परिवर्तन का निर्धारक कहा जा सकता है :-

1. धर्म-परिवर्तन की आकांक्षा रखने वालों को अपनी अपूर्णता एवं तुच्छता का बोध होना चाहिए। जब व्यक्ति को अपनी नीचता, अपनी विवशता, अपने पाप की चेतना हो जाती है तो वह अपनी इस स्थिति से छुटकारा पाना चाहता है। इस चाहत के साथ उसकी अपनी तीव्र इच्छा का होना जरूरी है। दृढ़ संकल्प ही उसे धर्म-परिवर्तन के लिए प्रेरित करती है।

2. धर्म-परिवर्तन के लिए आत्म समर्पण की परम आवश्यकता है। जो अपने 'स्व' को त्याग देता है, जिसमें अपने अहं की भावना नहीं रहती है जो अपने को बिल्कुल उस परमशक्ति के ऊपर आश्रित कर देता है वही धर्म-परिवर्तन कर सकता है।

3. दिव्य ज्योति या किसी परम शक्ति का बोध, मानव को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रेरणा देता है।

4. अटूट श्रद्धा : जो व्यक्ति धर्म परिवर्तन करता है उसे अपने आदर्श में अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। जो व्यक्ति हिचकिचाहट में फँसा रहता है वह धर्म परिवर्तन नहीं कर सकता। धर्म-परिवर्तन के लिए व्यक्ति को दृढ़ संकल्पी होना चाहिए।

5. धर्म-परिवर्तन के लिए धार्मिक शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। धार्मिक-शिक्षा से व्यक्ति में धार्मिक संस्कार का सृजन होता है जो मानव को धर्म-परिवर्तन की ओर उन्मुख करता है। जे० बी० प्राट ने इश्वर-शास्त्र की शिक्षा को धर्म-परिवर्तन का मूल घटक कहा है। धार्मिक-चेतना, धार्मिक भावना एवं संवेग की उत्पत्ति धार्मिक शिक्षाओं के कारण ही होती है। सभी व्यक्ति स्वभाव से ही धार्मिक होता है किन्तु धार्मिक भावना जगाने के लिए शिक्षा की नितान्त जरूरत होती है।

20.2.2 धर्म-परिवर्तन के प्रकार

धर्म-परिवर्तन के दो प्रकार मुख्य हैं : (1) संकल्पनात्मक धर्म-परिवर्तन और (2) आत्म समर्पण मूलक धर्म-परिवर्तन।

(1) संकल्पनात्मक धर्म-परिवर्तन में व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी अशुभ वृत्तियों को त्याग कर शुभकर्मी बनने के लिये अपने को बदल डालता है। इस प्रकार के रूपान्तरण के फलस्वरूप मनुष्य का परिवर्तन ईश्वरीय मनुष्य के रूप में संभव होता है। इस प्रकार के रूपान्तरण में इच्छित परिणाम मन्द और क्रमिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार के कनभर्सन में मानव की संकल्प शक्ति की महत्त्वूपर्ण भूमिका रहती है।

(2) आत्मसमर्पण मूलक धर्म परिवर्तन में मनुष्य अपने को ईश्वर या कोई उच्चत्तर सत्ता के अधीन अपने को समर्पित कर देता है। इस प्रकार के धर्म परिवर्तन में व्यक्ति की अपनी इच्छा का कोई स्थान नहीं रहता है। मनुष्य स्वयं को परमसत्ता की अनुकम्पा के आसरे समर्पित कर देता है। इस धर्म परिवर्तन में मनुष्य निष्क्रिय रहता है। उसकी भावनाओं, संवेग की भूमिका इस प्रकार के धर्म परिवर्तन में मुख्य रूप से रहती है।

(3) उपरोक्त दोनों प्रकार के धर्म परिवर्तन के अलावे एक और प्रकार का धर्म-परिवर्तन होता है जिसे 'धर्मान्तरण' कहते हैं। धर्मान्तरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें व्यक्ति अपने धर्म का त्याग कर किसी अन्य धर्म को अंगीकार कर लेता है। जैसे सम्राट अशोक ने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्धधर्म को अंगीकार कर किया। ईसाई मिशनरी प्राय: समाज के दलित वर्ग के व्यक्तियों को ईसाई बना लेते हैं। इसी तरह कोई हिन्दू, इस्लाम धर्म को अंगीकार कर लेता है। सभी धर्मों में इस तरह के धर्मान्तरण की इजाजत नहीं है। हिन्दू धर्म में किसी अन्य धर्मावलम्बी को दीक्षित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के धर्मान्तरण में मनुष्य की अपनी स्वतंत्र इच्छा की भूमिका रहती है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के धर्मान्तरण में मनुष्य स्वेच्छा का प्रयोग बहुत कम कर पाता है। बहुत बार गरीबी या किसी लालच में आकर भी मनुष्य अपना धर्म बदल लेता हैं।

20.3 सारांश

धर्म परिवर्तन का संबंध धर्म से है। हर व्यक्ति को अपने मन के लायक धर्म चुनकर जीवनयापन करने की स्वतंत्रता है। धर्मान्तरण के अतिरिक्त धर्म-परितर्वन के अन्य रूप भी हैं। पापकर्मी अपने पापाचार का ज्ञान प्राप्त कर झुरता, पछताता है और दृढ़-संकल्प का अपना जीवन-परिवर्तन कर लेता है। अपनी कामुकता का ज्ञान होते ही तुलसीदास रामभक्त सन्त तुलसीदास बन गये। अपनी जीवन शैली बदल का डाकू वाल्मीकि ऋषि वाल्मीकि बन गये। धर्म-परिवर्तन हठात् भी हो सकता है, क्रमिक भी। संकल्पनात्मक धर्म परिवर्तन क्रमिक होता है। अपने कुसंस्कारों को त्याग कर व्यक्ति धीरे-धीरे एक नये जीवन में प्रवेश कर बिल्कुल नये रूप में परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी दिव्य ज्योति या ईश्वर का दर्शन प्राप्त होने पर व्यक्ति उस सत्ता के प्रति आत्म समर्पण कर धर्म परिवर्तन कर लेता है।

20 क : धर्म-निरपेक्षतावाद

20क.0 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य धर्म निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) के विभिन्न अर्थों की व्याख्या करना है। इस पाठ का उद्देश्य यह समीक्षा करना है कि धर्म निरपेक्षतावाद धर्म विरोधी या धर्म के प्रति उदासीनता है।

20क.1 विषय प्रवेश

विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति ने धर्म एवं धार्मिक अवधारणाओं को आज के युग के लिए निरर्थक बना दिया है। आज जब बाढ़ आती है तो कोई भी ईश्वर की प्रार्थना या सामूहिक प्रार्थना नहीं करता बल्कि बाढ़ पर नियंत्रण करने के लिए बाँध की योजना बनाता है। इस प्रकार का चिंतन यह बताता है कि ईश्वर जैसे अति

प्राकृतिक सत्ताओं में अब लोगों का विश्वास नहीं रहा हैं और सभी घटनाओं की व्याख्या एवं समस्याओं के समाधान के लिए प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते हैं। यही 'सेक्युलेरिज्म' कहलाता है यह इहलौकिकतावाद कहलाता है। धर्मनिरपेक्षतावाद इहलोकिकवाद का ही दूसरा रूप है। सेक्युलेरिज्म शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'सेक्युलम' (Seculum) से हुआ है जिसका अर्थ 'लौकिक जगत्' होता है। लौकिक जगत् पारलौकिक जगत् का विरोधी माना जाता है। इंगलैंड निवासी होलीओक ने सेक्युलरिज्म को जीवन-दर्शन के रूप में विकसित किया जो धर्म के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है जो धर्म-विरोधी एवं निरीश्वरवादी है। पाश्चात्य देशों में सेक्युलरिज्म जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है जो धर्म-विरोधी तो नहीं कहा जा सकता किन्तु धर्म के प्रति उदासीन अवश्य है।

20क.2 मुख्य विषय

'सेक्युलरिज्म' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। पहला अर्थ 'इहलौकिकवाद' है और दूसरा अर्थ 'धर्मनिरपेक्षतावाद' है। 'धर्मनिरपेक्षतावाद' भारतीय राजनीति से जुड़ा हुआ है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ 'सभी धर्मों का सहअस्तित्त्व' एवं सभी 'धर्मों के प्रति समान आदर भाव' है। धर्म निरपेक्षतावाद को धर्म विरोधी समझना भ्रामक होगा। 'धार्मिक तटस्थता एवं निष्पक्षता' ही धर्म-निरपेक्षतावाद का अर्थ है जैसा कि राधाकृष्णन ने स्पष्ट किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने सेक्युलरिज्म को इहलौकिकवाद के अर्थ में समझा है। पाश्चात्य देश में सेक्युलराइजेशन प्रक्रिया का प्रतिफल है कि धार्मिक चिंतन, व्यवहार और धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व समाज के लिये नगण्य हो गया है। इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एन्ड एथिक्स में 'धर्म-निरपेक्षतावाद राजनीतिक एवं दार्शनिक प्राथमिकता से युक्त एक ऐसी विचारधारा है जिसका उद्देश्य पूर्णरूप से नैतिक किन्तु धार्मिक रूप से निषेधात्मक है।

20क.2.1 इहलौकिकतावाद के रूप में सेक्युलरिज्म

इहलौकिकवाद के अर्थ में धर्म निरपेक्षता आज के युग में प्रगतिपरक वैज्ञानिक तथा तकनीकी विज्ञान की देन है। इलौकिकता के संदर्भ में विज्ञान के योगदान की चर्चा करते हुए प्रोफेसर फिलिन्ट ने कहा कि इहलौकिक सिद्धांत यह है कि विज्ञान ही मानव का विधाता है तथा पूर्ण आध्यात्मिक निर्भरता में भौतिकता का विनाश निहित है। इहलोकिक प्रक्रिया में बौद्धिकता पर विशेष बल दिया जाता है। इहलौकिकता प्रत्येक वस्तु को परीक्षा एवं समीक्षा के धरातल पर परखने का आदेश देती है। लोक कल्याण एवं मानवहित ही एकमात्र नि:श्रेयस है जिसे मानव अपनी बुद्धि के आधार पर, विज्ञान, तकनीकी एवं औद्योगीकरण के द्वारा प्राप्त कर सकता है। प्रोफेसर फिलिन्ट इस प्रकार के सेक्युलरिज्म एवं प्रत्यक्षवाद में काफी घनिष्टता पाते हैं। पुराने पारलौकिक मूल्य आज के युग में निरर्थक हो चुके हैं। नये भौतिक एवं मानव मूल्यों को इहलौकिकवाद प्रधानता देता है। ह्युमैनिज्म जो निरीश्वरवादी धर्म है जिसमें मानव के मूल्यों को प्राथमिकता दी जाती है इस प्रकार के इहलौकिकवाद का आदर्श बन गया। नैतिक मूल्य लोक कल्याण एवं समाज सेवा जैसे मूल्यों को सर्वोपरि मानना इस प्रकार के इहलौकिकवाद का आदर्श है। यह प्रकृतिवादी, मानववादी, विचारधारा है जो अध्यात्मवाद का विरोधी है। कौक्स ने भी 'लौकिक दृष्टि' (Profanity) मानव की मानसिकता का द्योतक बताते हैं। 'उपयोगितावाद' 'लौकिक दृष्टि' गतिशीलता 'सहनशीलता' इहलौकिकवाद की विशेषता है। इस प्रकार की इहलौकिकता में वैज्ञानिक एवं यांत्रिक मूल्यों की प्रधानता रहती है। इसमें 'धार्मिकता' 'पवित्रता' का अभाव पाया जाता है।

20क.2.2 धर्म निरपेक्षता के रूप में सेक्युलरिज्म

भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble) में सेक्युलेरिज्म का अर्थ सभी धर्मों का सहअस्तित्त्व एवं सभी धर्मों का समान आदर करना बताया गया है। भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य माना गया है। इसका अर्थ है

कि विभिन्न धर्मों के साथ तटस्थता बरतना है। धर्म के पालन करने वालों को अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता है। राज्य के किसी भी कार्य के सम्पादन में धर्म की कोई भूमिका नहीं रहेगी। जहाँ तक सभी धर्मों के सहअस्तित्व का प्रश्न है और सभी धर्मों के प्रति सद्भाव रखने का प्रश्न है, महात्मा गाँधी ने इस धर्म निरपेक्षता की भावना को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा था कि ''जिस प्रकार मैं गीता में श्रद्धा रखता हूँ, उसी प्रकार मैं बाइबिल में भी श्रद्धा रखता हूँ। मैं विश्व के सभी महान् धर्मों को समान रूप से सत्य मानता हूँ। जब कोई किसी धर्म का उपहास करता है तो मुझे चोट सी लगती है। सेक्युलरिज्म धार्मिक अवधारणा है और हरिजन में प्रकाशित अपने धर्म के संबंध में अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करते हैं, ''उनकी धर्म संबंधी अवधारणा हिन्दू धर्म, इसाई धर्म इत्यादि सभी का अतिक्रमण करती है। वह उन्हें नकारती नहीं है बल्कि उन्हें समन्वित करती है। और उन्हें सत्ता (reality) प्रदान करती है। भारतीय राजनीतिज्ञ महात्मा गाँधी के धर्म संबंधी मनोभाव को ग्रहण नहीं कर पाये। उनका ख्याल था कि हिन्दू और मुसलमान धर्म-परायण हैं और उनकी धार्मिक भावना का सम्मान रखना है। किन्तु भारत के विभाजन का परिणाम हिन्दू-मुस्लिम दंगा ने सभी धर्मों के सह-अस्तित्व की भावना पर करारी चोट की। सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखना मुस्लिम को कट्टर मुस्लिम और हिन्दू को असहिष्णु बना दिया। भले ही मुस्लिम का वोट काँग्रेस पार्टी को अधिक मिला हो।

भारत और पाश्चात्य देशों में प्राकारिक अन्तर है। पाश्चात्य देशों में नैतिकता ही धर्म का विशेष लक्षण समझा जाता है। ईश्वर में अविश्वास के हो जाने पर भी ईसाई नैतिकता पाश्चात्य देशों के जीवन की व्यवहार-नीति है। इसके विपरीत भारतीय धर्मों में व्यक्ति की पूर्णता अर्थात् देवत्व-प्राप्ति ही धर्म का मूल आदर्श रहा है। समाज अभिमुखी नैतिक आचरणों पर बल नहीं दिया गया है। अत: भारत में धर्म के ह्रास से नैतिक जीवन में गिरावट की भारी आशंका है। ऐहिकतावादी पाश्चात्य देशों में देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, विज्ञान-प्रेम, साहित्य एवं ललित कला इत्यादि जीवन को उद्देश्यपूर्ण बना देती है।

20क.2.3 धर्मों के प्रति तटस्थता के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद

इस प्रकार की धर्म निरपेक्षता या सेक्युलरिज्म में सहिष्णुता मूल कुंजी है। सहिष्णुता का अर्थ धर्म के अनुयायियों को किसी प्रकार से प्रताड़ित करने का प्रयास नहीं करना है। इसका अर्थ है बौद्धिकता द्वारा उदार दृष्टि से अपनाना। ऐसी दृष्टि केवल मानवतवादी दृष्टिकोण अपनाने से नहीं आती बल्कि इस जानकारी से उत्पन्न होती है कि सभी धर्म सापेक्षिक है। सभी धर्मों में कोई न कोई सत्य छिपा है। अत: हम हर धर्म से कुछ-न-कुछ महत्वपूर्ण तथ्य ग्रहण कर सकते हैं। जरूरत है वृहत् दृष्टि एवं उदार हृदयता की। धर्मों के प्रति तटस्थता का अर्थ केवल सहिष्णुता ही नहीं बल्कि सभी धर्मों का सही ज्ञान प्राप्त कर बौद्धिक स्तर पर हर धर्म के प्रति तटस्थता बरतें। विद्या के प्रसार, सभी धर्मों की सही जानकारी प्राप्त करने से आपस में सुख शान्ति एवं बन्धुत्व भावना के साथ स्नेह एवं प्रेममय जीवन जीने में प्रेरणा मिलेगी।

20क.3 सारांश

पाश्चात्य देशों में सेक्युलरिज्म को इहलौकिकवाद के रूप में ग्रहण किया गया है और भारतवर्ष में 'धर्म निरपेक्षतावाद' के रूप में स्वीकार किया गया है। 'धर्म निरपेक्षता' का अर्थ भारतीय परम्परा में सभी धर्मों के सहअस्तित्व एवं सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान करना माना गया है। सभी धर्मों के प्रति तटस्थता बरतना ही धर्म निरपेक्षतावाद का मूल मंत्र है। भारत एवं पाश्चात्य देशों के बीच एक मौलिक अन्तर यह है कि भारत अभी भी धर्म प्रधान देश है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के प्रभाव से अछूता है। किन्तु पाश्चात्य देश वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का पूरा लाभ उठाकर लोक कल्याण, समाज सेवा एवं मानव विकास में संलग्न है। नैतिकता को मानव एवं सामाजिक स्तर पर जीवन को सुखमय बनाने की दिशा में उन्मुख है। इहलौकिकतावाद उनके जीवन को सुखमय बनाने की दिशा में प्रशस्त है। इसके विपरीत भारत में ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसलिये यहाँ के परिप्रेक्ष्य में धर्म निरपेक्षतावाद ही सेक्युलरिज्म का अर्थ है।

20.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

धर्म-परिवर्तन= अपना धर्म त्याग कर अन्य धर्म अपनाना
हृदय परिवर्तन, जीवन परिवर्तन, मन परिवर्तन

सेक्युलरिज्म = धर्म निरपेक्षतावाद, धर्मतटस्थतावाद
= सभी धर्मों का सहअस्तित्व, इहलौकिकवाद

20.5 अभ्यास के प्रश्न

20.5.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) कनवर्सन एक

(क) तार्किक प्रक्रिया है
(ख) ज्यामिमिक प्रक्रिया है
(ग) नाम में परिवर्तन है
(घ) धर्म परिवर्तन है

उत्तर – (घ)

(2) सेक्युलरिज्म

(क) सभी धर्मों का सहअस्तित्व है
(ख) सभी धर्मों के प्रति समादर है
(ग) इहलौकिकवाद है
(घ) उपरोक्त सभी है।

उत्तर – (घ)

20.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. धर्म परिवर्तन के निर्धारक क्या हैं ?

उत्तर – 20.2.1

2. धर्म परिवर्तन के विभिन्न प्रकारों से अपनी जानकारी बतायें।

उत्तर – 20.2.2

3. इहलौकिकवाद के रूप में सेक्युलरिज्म की व्याख्या करें।

उत्तर – 20क.2.1

4. सभी धर्मों के सहअस्तित्व के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद की व्याख्या करें।

उत्तर – 20.क.2.2, 20.क.2.3

20.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. धर्म परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ? धर्म-परिवर्तन के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या करें। धर्म-परिवर्तन के निर्धारक घटक क्या हैं ?

उत्तर – 20.2

2. धर्म निरपेक्षतावाद क्या है ? क्या यह इहलौकिकता है ? धर्म निरपेक्षता की परिभाषा भारतीय संविधान में जिस प्रकार की गई है उसकी व्याख्या करें।

उत्तर – 20क.2

20.6 प्रस्तावित पाठ

1. विलियम जेम्स	:	'द भैराइटीज ऑफ रिलिजयस एक्सपिरियेन्स
2. हेस्टिंग्स	:	इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलिजन एन्ड एथिक्स
3. फिलिंट	:	एन्टी-थिस्टीक थ्योरीज
4. बी० विल्सन	:	रिलिजन इन सेक्युलर सोसाइटी
5. वेरनम प्राट	:	रिलिजन एन्ड सेक्युलराइजेशन
6. जे० बी० प्राट	:	द रिलिजियस कन्ससनेस
7. वाई० मसीह	:	'धर्म और ऐहिकता' दर्शन समीक्षा, 1971 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

◆◆◆